आजकल

साहित्य एवं संस्कृति का मासिक

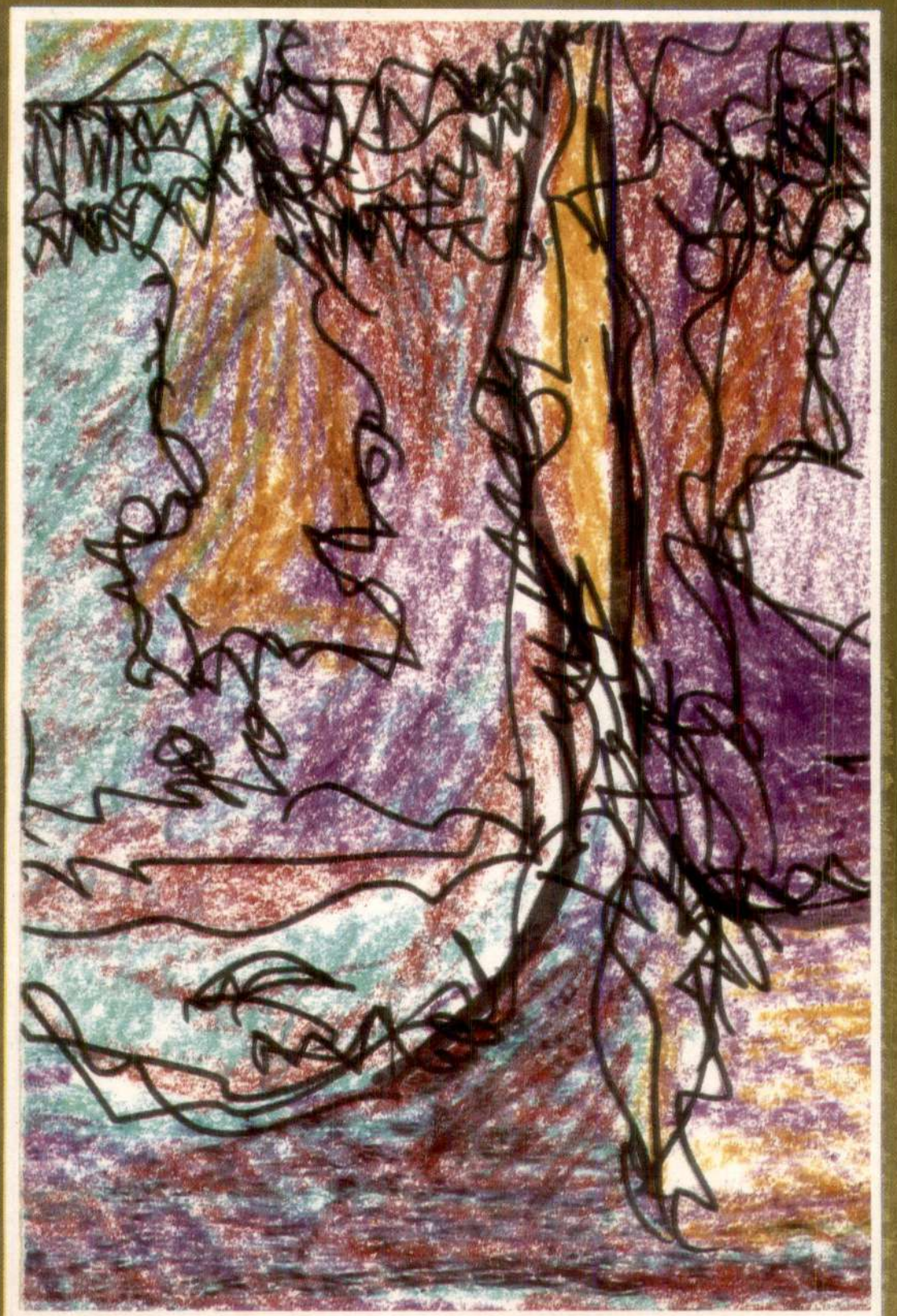

■ अनुवाद के महत्व पर *राजेंद्र यादव* ■ *भीष्म साहनी* के नाटक के अंश ■ अंग्रेजी में हिंदी कविता : *हरदयाल* ■ संस्कृत साहित्य में उपन्यास : *जगदीश त्रिपाठी* ■ पश्चिम का पूरबवाद : *आनंद प्रकाश* ■ *बर्तोल्त ब्रेख्त, कोस्तोलान्य दैजो* और *हेमांगिनी रानडे* की कहानियां, कविताएं तथा अनूदित पुस्तकों पर विशेष सामग्री

दो कविताएं : एन. बालामणि अम्मा

प्रेमोपहार

प्रिय मेरे, बुनती हूं मैं तुम्हारे लिए एक अंगवस्त्र
जिसमें डूबा रहता है मेरा मन सदा।
भोर की छवि विलीन हुई, दोपहरी की ऊष्मा में
पंछी सोए पेड़ों की छाया में,
फैलीं छायाएं जग भर में
सांध्य पवन आता है
काम मेरा पूरा नहीं हुआ अभी तक।
मोहित करता है मेरी आंखों को यह
अपने जगमग तारों से,
बुनती-काढ़ती मैं जिन्हें
और जोड़-जोड़कर आनंद पाती हूं।
कहीं कोई कमी या टेढ़ापन या कोई विरूपता
न आए मेरे प्रेमोपहार में!
यह रेशम मुझे बेहद प्यारा है।
यह मेरी आंखों को शीतलता
और मेरी उंगलियों को फुर्ती देता है
कभी-कभी मैं इतनी डर जाती हूं कि
कहीं यह मेरी उंगली के मैल से मैला न हो जाए।
मेरी सुई की नोक तेज नहीं, तो भी
उसकी प्रेमपूर्ण लगन तारे कढ़े किनारों पर
सपनों का धवल जाल फैलाती है,
बहुरंगी तारों से बनाती हूं
परिचित सौंदर्य के विविध रूपों को!
इसकी सुंदरता से मिलते-जुलते हैं
हरे पेड़ और सौध के आंगन के गुलाब के पौधे।
हाथ थक चले हैं और आंखें धुंधलाने लगी हैं
फिर भी मेरा मन इसी में रम रहा है
मेरा कला-कौशल जरा-सी पूंक मारने से ही
हिल जाएगा—इसकी तो उम्मीद नहीं,
पर मैं इतना चाहती हूं कि इस दुनिया की
कटु-कर्कशता से अनजान बनी रहकर
प्रिय की उंगलियों के बीच रहूं सदा।
बार-बार तुम्हारा बदन सहलाकर
उच्छ्वास-गंध पीकर तृप्त हो जाऊं।
पर डरती भी हूं मैं अभी कि तुम्हें अर्पित करने को
मेरी रचना की सुंदरता में कहीं कोई कमी न रह जाए!

केवल आज के लिए

फिर दिखाएगा तू, जीवन!
इस कोमल चित्रपट को क्या फिर दिखाएगा?
इस महान सौंदर्य की स्वर्णधारा को मेरे सामने खोल!
'यह केवल आज के लिए, केवल आज के लिए'
तू जो कहता रहा तो क्या होगा?
रंग बदलते हैं/दृश्य बदलते हैं/क्षण भागता रहता है।
रह-रहकर तेरा यह कला-कौशल
बनाता है मुझे तेरा आशिक
सदा के लिए इसे बनाए रखने के लिए
मेरी इंद्रियां यत्न से जाल बुनती हैं
उद्धत भाव से बुद्धि/बंद करना चाहती है और खुद को सताती है।
'केवल आज के लिए, केवल आज के लिए'
कहता हुआ मेरा मन चीखता-पुकारता है।
ऋषि/आवर्तन ही कहा करते हैं
जीवन को/इस संसार के संग को।
सूर्य, चंद्रमा और ऋतु भी हमेशा
इस रंगमंच पर आत-जाते रहते हैं,
जो पलं मुझे सहलाकर चले गए,
वे कभी वापस नहीं आते।
क्या देख सकूंगा इस मनोहर चित्रपट को
क्या फिर कभी मैं देख पाऊंगा, हे जीवन!
तू जो कहता है कि सौंदर्य उसमें नहीं, जो शाश्वत होता है
तो फिर ऐसे क्षणिक अद्‌भुत चित्र कितने हैं तेरी गोद में?
तू एक को बदलता है
तो क्या दूसरे को विशिष्ट दिखाने के लिए?
है सौंदर्य-मयूर!/श्री-विद्या के वाहन!
काल की छोटी लहरें उठाकर
फिर तेरे पंख यहां फैलेंगे न!

मलयालम से अनुवाद : **पी.पी. कोच्चुनारायणन**

इस अंक में

स्थापित 1945

आजकल

वर्ष : 52; अंक : 10; पूर्णांक 617;
फरवरी, 1996
माघ-फाल्गुन, शक संवत 1917

संपादक
प्रताप सिंह बिष्ट
सहायक संपादक
योगेंद्र दत्त शर्मा
उप संपादक
हामिद हुसैन

आवरण : **असगर वजाहत**
सज्जा : **इरफान**

संपादकीय पत्रव्यवहार :
संपादक 'आजकल'
प्रकाशन विभाग, पटियाला हाउस,
नई दिल्ली-110001; दूरभाष : 3387069

चंदे की दरें
एक प्रति : 5 रुपये;
वार्षिक : 50 रुपये;
विदेशों में (हवाई डाक से) एक वर्ष :
पाकिस्तान, बंगला देश, श्रीलंका :
200 रुपये या 7 डालर
शेष विश्व : 20 डालर या 600 रुपये

चंदे व वितरण संबंधी पूछताछ :
व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
पटियाला हाउस
नई दिल्ली-110001

हमारे विक्रय केंद्र
नई दिल्ली : सुपर बाजार, कनाट प्लेस; दूरभाष : 3313308
लखनऊ : 27/6 राममोहन राय मार्ग; दूरभाष : 245785
कलकत्ता : 8, एस्प्लेनेड ईस्ट; दूरभाष : 2488030
पटना : बिहार राज्य सहकारिता बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ; दूरभाष : 653823
बंबई : कामर्स हाउस, करीम भाई रोड, बालार्ड पायर; दूरभाष : 2610081
तिरुअनंतपुरम : गवर्नमेंट प्रेस के निकट; दूरभाष : 330650
हैदराबाद : राज्य पुरातत्व संग्रहालय बिल्डिंग, पब्लिक गार्डन्स; दूरभाष : 236393
मद्रास : एल.एल.ए. आडीटोरियम, 736, अन्नासलै; दूरभाष : 8523643

लेख

6. **खुद कहीं अनुवाद हैं हम ....**
राजेंद्र यादव का मानना है कि अनुवाद अपनी भाषा की क्षमताओं, शब्दों और मुहावरों को खंगालने की ऐसी प्रक्रिया है जो लेखकीय औजारों को धार देती है। इसलिए लेखकीय रियाज का अनिवार्य हिस्सा है।

14. **अंग्रेजी में हिंदी कविता**
हिंदी कविता के उन्नीसवीं शताब्दी से ही अंग्रेजी में अनुवाद की परंपरा रही है। ईस्ट इंडिया कंपनी के मेजर ब्रूटन ने भारतीय सैनिकों से सूक्तियों के रूप में हिंदी कविता के अंश सुने और इन्हें संकलित व अनूदित किया। हिंदी कविता के अनुवादों की परंपरा पर **हरदयाल**

21. **संस्कृत साहित्य की औपन्यासिक परंपरा**
यद्यपि यह आम धारणा है कि उपन्यास विश्व को पश्चिम की देन है, पर संस्कृत में उपन्यासों की एक लंबी परंपरा रही है जिसका परिचय दे रहे हैं **जगदीश त्रिपाठी**।

34. **पश्चिम का 'पूरबवाद'**
पश्चिम में पूर्व के देशों की कला, संस्कृति और चिंतन के अध्ययन की परंपरा एक पूरे शास्त्र के रूप में स्थापित है। परंतु क्या यह शास्त्र मात्र पूरब को समझने और जानने के लिए है या पश्चिम की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं और जरूरतों को पूरा करता रहा है? एडवर्ड सैद और एजाज अहमद की पिछले दिनों प्रकाशित पुस्तकों का विवेचन कर रहे हैं **आनंद प्रकाश**।

41. **बाजार का परिप्रेक्ष्य**
हिंदी पुस्तकों के समाज में न लेखकों का अभाव है, न प्रकाशकों का और न खुद पुस्तकों का। बस एक पाठक ही वहां ढूंढे नहीं मिलता। यह एक आम धारणा है जिससे सभी सहमत हैं। इसके बावजूद न लेखक लिखना बंद करता है और न प्रकाशक छापना। **आर. चेतन क्रांति** इस गुत्थी पर प्रकाश डालने का प्रयत्न कर रहे हैं।

44. **खुला मस्तिष्क : खिला हुआ हृदय**
राजकुमार सैनी

नाटक

9. **आलमगीर**
भीष्म साहनी द्वारा लिखे जा रहे नाटक के अंश

कहानी

17. **महाशय 'ब' की कहानियां**
बर्तोल्त ब्रेख्त (जर्मन)

18. **एक ईमानदार शहर**
कोस्तोलान्य दैजो (हंगारी)

25. **शरीर**
हेमांगिनी रानडे

कविताएं

आवरण II : **दो कविताएं**
एन. बालामणि अम्मा (मलयालम)

32. **दो कविताएं**
सुरजीत पातर (पंजाबी)

33. **दो कविताएं**
कुंदन शर्मा (नेपाली)

43. **एक कविता**
पवित्र मोहन दाश (उड़िया)

अनूदित पुस्तकों का विशेष खंड

45. **भारतीय कथा परंपरा**
पंचतंत्र तथा *कथासरित्सागर* के नए रूपांतरों पर **अरविंद मोहन**

48. **असफल प्रेम की एक कथा**
विनोद शर्मा

49. **सामाजिक विसंगतियों का लेखा**
मुक्ता

49. **जीने के हक का परचम**
वि. श.

51. **मनुष्यता के सच की तलाश**
विद्यानिधि

52. **अपूर्व संघर्ष की गाथा**
द्वारिका प्रसाद

54. **जटिल युद्ध : सरल विजेता**
चंद्रभूषण

57. **औरत के हक में और आदमी के भी**
यदुनाथ मुखर्जी

61. **जीवन के गहन अर्थों की चिरंतन खोज**
अमरजीत सिंह

स्तंभ

2. पत्र
4. प्रसंग

पत्र

आत्मसाती चरित्र

● 'मूल्यहीनता का सुख' आलेख में व्यक्त हिंदी भाषा में अंग्रेजी शब्दों के प्रचलन पर चिंता स्वाभाविक है, किंतु यह भी स्वीकारना होगा कि इसके लिए हिंदी का आत्मसाती चरित्र उत्तरदायी है। विकास-क्रम की दृष्टि से 'हिंदी' एक ऐसा अनेकार्थी शब्द है जो विभिन्न कालों में विविध रूपों में प्रयुक्त मिलता है। हिंदुवी, हिंदू, हिंदवी, हिंदवीं, हिंदुई, हिंदगी, हिंदवान आदि इसी के प्राचीन नाम थे। इनके अतिरिक्त परवर्ती काल में भाका, भाखा, भाषा, दकनी, दखनी, मूर, दखिनी, दक्खिनी, हिंदुस्तानी, इंडोस्तानी, हिंदोस्तान, हिंदुस्थान, देहलवी, रेख्ता, खड़ी बोली, सरहिंदी, नागरी, हिंदी नागरी, नागरी भाषा, देवनागरी, काली जबान, आर्य भाषा आदि नामों का प्रभाव परिलक्षित होता है।

हिंदी पर जातीय एवं विजातीय संस्कारों के प्रभाव के कारण अंग्रेजी सहित अन्य भाषाओं के शब्द बोलचाल में स्थान पाते गए। हिंदी को शासन तथा नागरिक व्यवहार में प्रभावी बनाकर कार्यान्वित न कर पाने का कारण है नीति और रीति के अभाव के साथ-साथ हिंदी के प्रति अवमानना की (रुग्ण) मानसिकता। हर सेवा के क्षेत्र में हिंदी को स्थापित करने की दृढ़ इच्छाशक्ति की कमी ने अंग्रेजी के साम्राज्य को अक्षुण्ण रखने में मदद की। परिनिष्ठित हिंदी में नई ध्वनियों तथा व्याकरण के नाम पर अंग्रेजी का प्रदूषण फैलाना हिंदी के लिए नई चुनौती बन रही है। अपेक्षित है कि हिंदी का विकास समझने के लिए प्राचीन आर्यभाषा के उन रूपों पर ध्यान देना होगा, जो न वैदिक भाषा में हैं और न संस्कृत में, किंतु हिंदी के विकास में संस्कृत के अपभ्रंशक प्रयोग से हिंदी में नई शाब्दिक संरचना तथा अन्य भाषाओं का संस्कार हुआ। अतः हिंदी में बढ़ते अंग्रेजी के प्रभाव को कम करने के लिए हिंदी को विश्वस्तर पर हो रहे साहित्यिक एवं बोलचाल के भाषागत परिवर्तन के अनुरूप प्रयोगधर्मी होना होगा तथा बौद्धिक आंदोलन के लिए तैयार भी।

— वरुण कुमार मिश्र, गोपालगंज

हुसेन का जलवा

● *आजकल* का सितंबर अंक पूर्ण रूप से ज्ञानवर्द्धक रहा। विशेष तौर पर कला की मशहूर शख्सियत मकबूल फिदा हुसेन के बारे में जानकारी। हुसेन वास्तव में कला के सभी कोणों के जानकार हैं क्योंकि वह अपनी कला को सिनेमा से संग्रहालय तक ले जाने में सफल रहे। उनकी लगन और कला के प्रति अटूट विश्वास ही उन्हें शिखर तक ले गया। बेशक उनकी कला को समझने वाला एक विशिष्ट वर्ग ही रहा, परंतु उन्होंने अपनी कला को पूर्ण रूप से विस्तारित किया। वह निष्क्रिय बैठने वाले व्यक्ति नहीं हैं। उनकी कला के रंग का अर्थ बेशक एक रहा, परंतु हुसेन का व्यक्तित्व अलग-अलग रंग का रहा। सभी रूपों में उन्हें प्यार और सम्मान मिला। कला, संस्कृति को श्रेष्ठ बनाने और निखारने में उनकी रचनात्मकता और अभेद्य दृष्टि लाजवाब है। शायद यही कारण है कि उनका जलवा भारत में ही नहीं, विदेशों में भी सभी के दिलों को भड़काने में कामयाब रहा।

इसके अतिरिक्त कहानी और कविताएं भी असरदार रहीं। साक्षात्कार साधारण लगा। परंतु संस्मरण 'अब तक मन में गूंज रहा है गान तुम्हारा' की गूंज बेहतर लगी।

— रमेश शर्मा बल्ली, दिल्ली

संकट की चिंता

● अरुण कुमार त्रिपाठी का लेख 'मूल्यहीनता का सुख' आज राष्ट्र में व्याप्त भाषा एवं साहित्य के संदर्भों में अस्थिरता तथा विसंगतियों पर एक करारा व्यंग्य है। संवेदनशील लेखक ने हिंदी भाषा पर बढ़ते संकट की ओर जो चिंता व्यक्त ही है वह पूर्णतया वास्तविक स्थिति को प्रकट करती है। पूरे देश में एक राष्ट्रीय नीति का निर्धारण करना आवश्यक हो गया है जिससे भारतीय भाषाओं तथा हिंदी का बहुमुखी विकास हो सके। इस प्रसंग में यह मूल्यांकन करना भी सार्थक होगा कि संस्कृत एवं उर्दू व्यापक रूप से इस प्रयास में किस प्रकार योगदान कर सकेंगी?

— हेमंत कुमार शर्मा, जोधपुर

किस कीमत पर!

● 'तार सप्तक' वाले अंक की ही तरह यह अंक भी बेजोड़ है। वैसे बाजार में इतनी कम कीमत में साहित्य और संस्कृति की यह सर्वश्रेष्ठ पत्रिका है। अंतर्राष्ट्रीय कला बाजार में भारतीय कला की उपेक्षा इसके आत्मसम्मान पर जबर्दस्त कुठाराघात है। जिस तरह से भारतीय कलाकृतियों को यूरोपियन कलाकृतियों की तुलना में दस-बीस गुना कम कीमतों में खरीदा गया, वह अभी भी यूरोपियनों के अंतर में कुलबुला रही अर्द्धविक्षिप्त साम्राज्यवाद की भावना कही जाएगी। हालांकि वहां भारतीय कला की मांग बढ़ रही है पर यह अनिवासी भारतीयों के देशप्रेम के कारण है। भारतीय कलाकारों और विद्वानों की यह मानसिकता बन चुकी है कि जब तक किसी कृति या तथ्य को पश्चिमी ठप्पा नहीं लगता तब तक वे उसे यथार्थ या समानांतर नहीं मान सकते। भारतीय कला की सबसे बड़ी विद्रूप मानसिकता यही है कि वह पश्चिमी मुहर के

लिए बेचैन दिख रही है। भारतीय कलाकारों की यह कमजोरी है कि वे जन्मजात ही पश्चिम को महान समझ बैठते हैं। पश्चिम में अपनी कला बेचना उनकी मजबूरी है। भारत में तो अधिक कीमत मिल नहीं पाती। यह विडंबना ही कही जाएगी कि भारतीय कला पश्चिम में आत्मसम्मान बेचकर पैसे जुटाने में लगी है।

– अखिलेश मिश्र विद्रोही, सुगांव

संपादक का कर्तव्य

● मिथिलेश श्रीवास्तव और प्रयाग शुक्ल को खास तौर से बधाइयां। आपने हुसेन पर इतनी प्रचुर सामग्री देकर एक सजग और दायित्वबाहक संपादक होने का सुबूत दिया है। पृष्ठवृद्धि की तारीफ लोग संतोष से कर रहे हैं, यह आपकी पाठकीय पक्षधरता है। परमानंद श्रीवास्तव और रवींद्र भारती की कविताएं अच्छी हैं। देवेंद्र शर्मा इंद्र का संस्मरण आत्मीय है। वीरेंद्र मिश्र को ठीक से जानना, समझना और मूल्यांकन करना समय और संस्कार का अनिवार्य तकाजा है। कविताओं का चयन जरा और बेहतर ढंग से हो तो अच्छा है। कहानियां सभी साधारण हैं। लेखकों का पता और संपादकीय का न होना मन में कचोट पैदा करता है।

– जगदीश विकल, मोतिहारी

लो संभालो तुम्हीं हुसेन

● सितंबर अंक में मकबूल फिदा हुसेन के रंग, आकृतियां और जीवन पर विशेष सामग्री देखकर मन खुश हो गया। हुसेन निश्चय ही बड़े और महत्वपूर्ण चित्रकार हैं। इस अंक में इस बड़े चित्रकार की और कविताएं होनी चाहिए थीं। हुसेन से बातचीत भी इस अंक में होनी चाहिए थी। निस्संदेह इस कमी को आप भी महसूसते होंगे। खैर! हुसेन की कविता का अनुवाद प्रस्तुत करने के लिए मिथिलेश श्रीवास्तव का विशेष आभार। हुसेन के कुछ चित्रों को देखकर लिखी गोविंद प्रसाद की कविता खास प्रभावित नहीं करती। 'प्रसंग' में स्तंभकार ने हुसेन पर अच्छा लिखा है। हुसेन अपने जीवन के 80वें वर्ष में अभिनेत्री माधुरी दीक्षित को अपने चित्रों में 'धक् धक्' करा रहे हैं। हुसेन को उनके 80वें वर्ष पर बतौर शुभकामनाएं दो पंक्तियां :

'लो संभालो तुम्हीं हुसेन
पूरी पृथ्वी तुम्हें ही सौंपते हैं।'

– शहंशाह आलम, मुंगेर

निराश किया

● सितंबर का अंक निराश ही कर गया। हुसेन पर एक भी लेख खोजपरक नहीं मिला। बस शब्दों के समंदर में तैरता रहा मैं। आखिरकार सारी उम्मीदें मृत्यु को प्राप्त कर ही गईं। तत्पश्चात कहानी भी सारहीन ही रही और कविता की स्थिति ने तो काफी नकारात्मक पथ पर ला छोड़ा। कुल मिलाकर कहूं तो *आजकल* का यह अंक पूर्वजों के समक्ष जोकर जैसा लगा। फिर भी इसकी महत्ता से हमें इंकार नहीं।

– अरुण कुमार राउत, सीतामढ़ी

सामंती उचित नहीं

● सितंबर अंक में अरुण कुमार त्रिपाठी का आलेख खासतौर पर विचारोत्तेजक और बहसतलब है। इसकी अधिकतर स्थापनाओं से सहमत हुआ जा सकता है लेकिन किसी भाषा को सामंती करार देना उचित नहीं है। कोई प्रवृत्ति वर्ग और संप्रदाय सामंती हो सकता है, कोई भाषा इस तरह के चरित्र की नहीं होती। त्रिपाठी ने हिंदी का दिल और हिंदी का दिमाग लिए जिन हिंदी साहित्यकारों की जरूरत महसूस की है वे दुर्लभ होते जा रहे हैं और भविष्य में भी उनका अभाव रहेगा। यदि हिंदीभाषी राज्यों में हिंदी को रोजगार से जोड़ दिया जाए, उर्दू से टकराव बचाने के लिए सरकारी नौकरी हेतु उर्दू या हिंदी की स्नातक स्तर की शिक्षा अनिवार्य कर दी जाए तो माहौल में एक गुणात्मक परिवर्तन आ सकता है।

– वेद प्रकाश अमिताभ, अलीगढ़

चुनौतीपूर्ण सवाल

● दो तरह की स्त्रियां अस्सी वर्षीय हुसेन के कैनवासों में आई हैं। लेकिन दूसरे प्रकार की महत्वपूर्ण स्त्रियां, जो समाज में ही नहीं विश्व में एक खास स्थान रखती हैं, जैसे मदर टेरेसा, इंदिरा गांधी जैसी हस्तियों को उपयुक्त रूपाकार की तलाश में उन्हें संघर्ष करना पड़ा। लेकिन दृश्य जगत की सशक्त चरित्र माधुरी को अपने कैनवास पर उन महत्वपूर्ण स्त्रियों की श्रेणियों में रखना कहां तक संगत है? यह एक चुनौतीपूर्ण सवाल है जो बुद्धिजीवियों में खलबली मचाए हुए है। संभव है, हुसेन भी इस खलबली की टंकार को जान रहे हों लेकिन इस सवाल को हमारी वैचारिक पत्रिका *आजकल* हुसेन के साक्षात्कार से सुलझा सकती है।

– अरुण अभिषेक, पूर्णिया

सहारे की जरूरत?

● यह अंक वर्ष 96 में विश्व प्रसिद्ध मकबूल फिदा हुसेन के लिए याद किया जाएगा। हुसेन की कला-यात्रा पर बहुआयामी विचार प्रभावशाली लगा। एक चीज, इस कलाकार के बारे में, सच पूछिए तो खटकती है। वह है विख्यात अभिनेत्री माधुरी दीक्षित प्रसंग। लगभग सभी राष्ट्रीय पत्रिकाओं ने इसे तरजीह दी है। आखिर वह कौन-सी आवश्यकता आ पड़ी कि जनाब हुसेन को माधुरी दीक्षित का सहारा लेना पड़ा?-यह बात मेरी समझ में अब तक नहीं आ पाई है। बिहार की पृष्ठभूमि पर लिखी सिद्धनाथ सागर की कहानी 'लौटते हुए' अंतर्मन को गहरे स्तर पर झकझोर गई।

– प्रताप कुमार सिंह, मुजफ्फरपुर

उपेंद्रनाथ 'अश्क'

संभवतः सन '73 या '74 की बात है। एक शाम कस्तूरबा गांधी मार्ग पर अश्क जी से मुलाकात हुई। वह *साप्ताहिक हिंदुस्तान* से हिमांशु जोशी के साथ आ रहे थे। जोशी जी ने मेरा परिचय करवाते हुए कहा, "ये हैं.....युवा लेखक।" इतना सुनना था कि अश्क जी ने धाराप्रवाह युवाओं की कारस्तानियों के ऐसे-ऐसे किस्से सुनाने शुरू किए कि मैं लगभग हतप्रभ! समझ नहीं पा रहा था कि इतना बड़ा लेखक क्या कह रहा है कि तभी एक जोरदार वर्षा की बौछार ने हमें दौड़कर अमरीकी लाइब्रेरी के बरामदे में शरण लेने को मजबूर कर दिया। उन दिनों लाइब्रेरी में आना-जाना इतना दुष्कर नहीं हुआ करता था, जितना अब सुरक्षा की दृष्टि से हो गया है। वर्षा संभवतः अगले आध-पौन घंटे होती रही और अश्क जी फिर से युवाओं की कारस्तानियां (मूलतः प्रेम प्रसंग) बताने लगे। अश्क जी से यह पहली मुलाकात थी पर मेरा मन बहुत खिन्न हो चुका था। सौभाग्य से उन्हें किसी और दिशा में जाना था और मैं आदतन काफी हाऊस को चला गया।

संभवतः अगले 10 वर्ष तक फिर उनसे मुलाकात नहीं हुई। सन 83 में साप्ताहिक *रविवार* में उनका एक पत्र छपा जो मेरे लिए एक आश्चर्य की तरह था। उन्होंने मेरे उपन्यास पर जिस तरह से प्रतिक्रिया व्यक्त की थी, वह किसी भी संघर्षरत लेखक के लिए गौरव की बात कही जा सकती है। अपने आप में यह कम आश्चर्यजनक नहीं था कि इतने वरिष्ठ लेखक ने एक नए लेखक का बिल्कुल पहला उपन्यास शब्दशः पढ़ा था और उस पर अपनी प्रतिक्रिया सार्वजनिक तरीके से व्यक्त की थी। इस तरह की अपेक्षा संभवतः अश्क जी व उनके बाद की भी पीढ़ी के किसी लेखक से, नहीं की जा सकती थी। अश्क जी अपनी अभिव्यक्ति में किसी तरह के पाखंड का निर्वाह नहीं करते थे और संभवतः यही कारण था कि वह उम्र की किसी भी अनावश्यक किस्म की सीमाओं—वरिष्ठता-कनिष्ठता—का ध्यान नहीं रखते थे।

'अश्क' जी

'अश्क' जी का *आजकल* से पुराना संबंध था। उनकी पहली रचना 'मैं क्यों लिखता हूं' अगस्त, 1952 में प्रकाशित हुई थी। जब हमने 80 वर्ष से ऊपर के लेखकों पर केंद्रित अंक निकालने की योजना बनाई तो उस शृंखला में पहला अंक दिसंबर, 1993 में अश्क जी पर निकला था। अगले वर्ष वह दिल्ली आए थे और 14 दिसंबर, को अपने जन्मदिन की मिठाई के साथ, हमारे कार्यालय पधारे थे। वह काफी देर हम लोगों के साथ रहे। हमने उनके साथ कई फोटो खिंचवाए। बातचीत के दौरान उन्होंने जिस तरह से लेखन के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को व्यक्त किया, वह आने वाली पीढ़ियों के लिए एक सबक है। वह बोले, "मैं *गिरती दीवारें* शृंखला के उपन्यासों का अंतिम उपन्यास लिख रहा हूं और जब तक मैं यह समाप्त नहीं कर लेता तब तक मैं मर ही नहीं सकता।" संभवतः अश्क जी अपने उस उपन्यास को समाप्त नहीं कर पाए हों, किंतु हिंदी साहित्य में अकेले *गिरती दीवारें* के कारण ही उनका जो स्थान है, उसके चलते उन्हें भुलाया नहीं जा सकता।

इस उम्र (85) में भी जीवन के प्रति उनकी ललक और उत्साह देखते ही बनता था। गत वर्ष अक्तूबर में जब वह अस्पताल में भर्ती थे, मुझे एक दिन के लिए इलाहाबाद जाने का मौका मिला। मैं किसी तरह दौड़ता हुआ उनसे मिलने अस्पताल पहुंचा। उनके पैर की हड्डी टूट गई थी। चूंकि जिस उम्र में वह थे, आपरेशन करना डाक्टरों ने उचित नहीं समझा था, इसलिए उनके पैर में ट्रैक्शन लगाया हुआ था जिसके एक सिरे पर बाट लटके हुए थे। यही नहीं, उन्हें पक्षाघात का भी असर था, परिणामस्वरूप बोलने में काफी असुविधा हो रही थी। हालत यह थी कि उनकी कही हर बात उनके बड़े बेटे उमेश के माध्यम से ही समझी जा सकती थी। काफी मुश्किल से वह समझ पाए कि उनसे मिलने कौन आया है और जब वह जान गए तो बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने हाथ में मेरा हाथ ले लिया और एक-दो वाक्यों के बाद ही साहित्य पर चर्चा शुरू कर दी। उनकी चिंता अपनी रचनाओं को लेकर ही नहीं थी बल्कि मेरे न लिख पाने से भी वह असहमत थे।

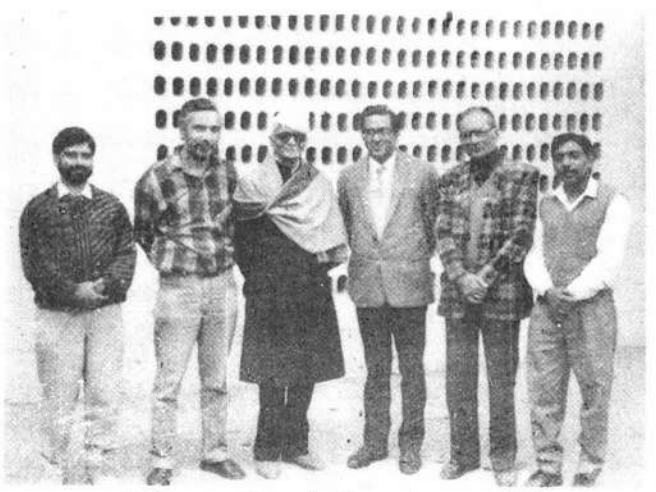

'अश्क' जी प्रकाशन विभाग के निदेशक ओम प्रकाश केजरीवाल तथा 'आजकल' (हिंदी व उर्दू) के संपादकीय विभाग के साथ

सारी चर्चा में उन्होंने अपने स्वास्थ्य की जरा भी शिकायत नहीं की। घंटे भर बाद ही मुझे गाड़ी पकड़नी थी और उनकी शारीरिक स्थिति को देखते हुए भी ज्यादा ठहर पाना संभव नहीं था। सारे रास्ते मैं यह सोचता हुआ चकित होता रहा कि यह व्यक्ति, जो लगभग मरणासन्न स्थिति में है, किस तरह से साहित्य और अपने रचना-कर्म के प्रति चिंतित है। अश्क जी विवादास्पद व्यक्ति हो सकते हैं किंतु लेखन के प्रति अपनी प्रतिबद्धता और जिजीविषा के लिए संभवतः हिंदी साहित्य में उनका कोई सानी नहीं है।

19 जनवरी, 1996 को उनका देहांत हो गया। *आजकल* परिवार उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

— पं. बि.

विखंडन या विसर्जन

तीसरी दुनिया के देशों की यह नियति है कि वे नई तकनीकी के आयात के साथ उसकी शब्दावली का ही नहीं, बल्कि विचार के क्षेत्र में हो रहे आंदोलनों की शब्दावली का भी यूरोपीय भाषाओं, विशेषकर अंग्रेजी से, अनुवाद करें। पिछले अंक में उत्तर आधुनिकता पर प्रकाशित प्रदीप आत्रेय और एजाज अहमद के लेखों को देखते हुए हमें यह बात और भी तीव्रता से महसूस हुई।

आधुनिकता के संदर्भ में एक शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण है और वह है *डिकंस्ट्रक्शन*। हिंदी में इस शब्द का जो अनुवाद चल रहा है, वह है *विखंडन*। *विखंडन* मूलतः परमाणु भौतिकी के संबंध में इस्तेमाल होता है जबकि *डिकंस्ट्रक्शन* एक अर्थ विशेष को संप्रेषित करने के लिए प्रयुक्त होता है। यह इस बात को रेखांकित करता है कि किसी रचना के पाठ का एक अपरोक्ष अर्थ भी है और इसे समझे बगैर किसी रचना को सही तरीके से समझा नहीं जा सकता। जैसाकि प्रदीप आत्रेय का कहना था कि : 'रचना के स्थापित अर्थ और गौण अर्थ के अंतर्गत अर्थ के अंतर्विरोध को उजागर करना' या एजाज अहमद के शब्दों में कहें तो : 'किसी साहित्यिक रचना में हमें जो कुछ नजर आता है, वह उस साहित्यकार की सोच से बहुत कुछ ज्यादा होता है, जिसकी रचना हमारे सामने होती है।' (देखें *आजकल* दिसंबर, 1995) यानी कि *डिकंस्ट्रक्शन* का अर्थ *'डिस्ट्रक्शन'* नहीं है पर दिक्कत यह है कि लगभग हर आलोचक *डिकंस्ट्रक्शन* के लिए *विखंडन* का ही इस्तेमाल किए जा रहा है, जिसका रूढ़ अर्थ खंड-खंड करना है।

प्रश्न यह है कि क्या हिंदी में इस शब्द का कोई और समानधर्मी शब्द हो सकता है जो ज्यादा स्वीकार्य और मूल अर्थ के निकट हो? इस संदर्भ में दो शब्दों पर विचार किया जा सकता है। पहला है—*विरचना* और दूसरा है—*विसर्जन*। पर *विरचना* संभवतः व्याकरणिक सीमाओं में सही सावित न हो। ऐसी स्थिति में *विसर्जन* 'डिकंस्ट्रक्शन' के लिए ज्यादा उपयुक्त शब्द कहा जा सकता है। ❑

घटना-क्रम

● प्रसद्धि फिल्म संगीतकार **वी. कुमार** का मद्रास में दिल का दौरा पड़ने से निधन (7 जनवरी)। वह 56 वर्ष के थे। उन्होंने तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम की 250 से अधिक फिल्मों में संगीत दिया था।

● सिनेप्रेमियों के बीच 'हंटरवाली' के नाम से मशहूर भारतीय सिनेमा की निर्भीक 'स्टंट क्वीन' **नाडिया** का बंबई में निधन (9 जनवरी)। वह 87 वर्ष की थीं। *हंटरवाली, फ्रंटियर मेल, डायमंड क्वीन* आदि उनकी मशहूर फिल्में थीं।

● नई दिल्ली में 27वें **अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह** का प्रारंभ (10 जनवरी)। इसमें विभिन्न देशों की लगभग 80 फिल्में प्रदर्शित की गईं। उद्घाटन फिल्म थी चीन के झांग यी मू की नई फिल्म *शंघाई ट्रायड*। सर्वश्रेष्ठ फिल्म का 'स्वर्ण मयूर' और पांच लाख रुपए का पुरस्कार भी चीनी फिल्म *ब्लश* (निर्देशक - ली शाओ हौंग) को मिला।

● प्रसिद्ध तेलुगु फिल्म अभिनेता और राजनीतिज्ञ **नंदमूरि तारक रामाराव** (जन्म-28 मई, 1923) का हैदराबाद में निधन (18 जनवरी)। रामाराव ने 1949 से 1982 तक लगभग 300 फिल्मों में अभिनय किया। उन्होंने 20 फिल्मों का निर्माण और 15 फिल्मों का निर्देशन किया। वह आंध्र प्रदेश के मुख्य मंत्री भी रहे।

● मलयालम के प्रसिद्ध साहित्यकार **एम.टी. वासुदेवन नायर** को 1995 का ज्ञानपीठ पुरस्कार देने की घोषणा (19 जनवरी)। 63 वर्षीय केरल में जन्मे श्री नायर के अब तक आठ उपन्यास, सोलह कहानी-संग्रह, दो यात्रा-संस्मरण और तीन अध्ययन ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। उनका पहला उपन्यास *नऐलकेट्टू* (संयुक्त परिवार) केरल साहित्य अकादमी से पुरस्कृत हुआ।

● हिंदी और उर्दू के सुप्रसिद्ध साहित्यकार **उपेंद्र नाथ 'अश्क'** (जन्म-14 दिसंबर, 1910) का इलाहाबाद में निधन (19 जनवरी)। उन्होंने लगभग 200 पुस्तकों की रचना की। उन्हें कई साहित्यिक पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। वह कई वर्षों तक फिल्मों से भी जुड़े रहे थे।

● सुप्रसिद्ध तमिल फिल्म निर्माता **आर.डी भास्कर** का मद्रास में निधन (22 जनवरी)।

● नोवेल पुरस्कार विजेता रूसी कवि **जोसेफ ब्रोदस्की** का न्यूयार्क में दिल का दौरा पड़ने से निधन (28 जनवरी)।

● प्रसिद्ध उड़िया कवि **लक्ष्मीनारायण महापात्र** का 54 वर्ष की अवस्था में बरहमपुर में निधन (28 जनवरी)। उनके 13 काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं।

● 81 वर्षीय रंगकर्मी **एस.एस. एस. ठाकुर** का नई दिल्ली में निधन (30 जनवरी)। संगीत नाटक अकादमी सहित कई अन्य पुरस्कार उन्होंने प्राप्त किए थे।

संकलन : **रामनारायण स्वामी**

खुद कहीं अनुवाद हैं हम...

अनुवाद अपनी भाषा की क्षमताओं, शब्दों और मुहावरों को खंगालने की ऐसी प्रक्रिया है जो लेखकीय औजारों को धार देती है। सही और सटीक शब्द का पर्याय तलाश करने की कोशिश में आप अपना सब कुछ उलटते-पलटते रहते हैं। **राजेंद्र यादव** *इसे लेखकीय रियाज का अनिवार्य हिस्सा मानते हैं।*

सही है कि अपने लेखन-जीवी युग में मैंने विदेशी, विशेषकर रूसी रचनाओं के अनुवाद किए। मेरा प्रिय कथाकार रहा है चेखव। उसी से शुरू किया। उसके पत्रों, डायरियों या उससे जुड़े मित्रों, प्रकाशकों, महिलाओं, भाई-बहनों की प्रतिक्रियाओं के आधार पर एक काल्पनिक इंटरव्यू तैयार किया। उन दिनों खासा चर्चित भी रहा। फिर कुछ कहानियां और *डुएल* उपन्यास (इसी का संशोधित रूप *टक्कर* नाम से बाद में आया), उसके तीन नाटक और आठ-दस कहानियां फिर लर्मन्तोव का *हमारे युग का एक नायक,* तुर्गनेव के *प्रथम-प्रेम* और *वसंत प्लावन,* कामू का *अजनबी,* स्टाइन बैक का *एक मछुआ : एक मोती।* टॉल्सटाय के *फादर सर्गियेव* का अनुवाद तो हो गया लेकिन इतना समय नहीं मिल पाया कि संशोधित करके प्रकाशित करा सकूं। हां, बहुत परिश्रम से फादयेव के एक उपन्यास *मैटर ऑफ हार्ट* का अनुवाद भी किया था—तीन सौ पृष्ठों से ऊपर ही रहा होगा—पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस के लिए। संपादन की प्रक्रिया में पता नहीं कहां खो गया! नेशनल बुक ट्रस्ट के शुरू में ही *अकबर की जीवनी* भी इस सूची में है। मोहन सिंह सेंगर ने विदेशी कहानियों का एक विशेषांक निकाला था *नया समाज* का। उसमें आठ-दस कहानियां नरेंद्र शिरोमणि, श्यामलता या अपने नाम से मैंने की की थीं। उनका भी एक अलग संग्रह बन सकता है, लेकिन अब उन्हें खोजना, एक बार फिर संशोधित संकलन करना झंझट ही लगता रहा और टलता रहा। तो यह है मेरा 'अनुवादित' साहित्य! शायद कम नहीं है।

दरअसल शुरू से ही एक जिद रही कि लेखन चाहे अपना हो या अनुवाद, वह नहीं करूंगा जो मेरे अपने मन का न हो ... अनुवाद के लिए चुनाव, जाहिर है प्रायः मेरा अपना ही रहा है। लेखन-जीवी रहकर आप हमेशा अपना ही नहीं लिखते रह सकते, वह भी लिखना होता है जो तत्काल पैसा दे ... चेखव की रचनाओं ने मुझे कलकत्ता जाने, वहां रहने में मदद दी ... बाद की रचनाएं भी मैंने खुद चुनीं, कुछ दूसरों ने सुझाईं। शायद दूसरा दबाव यह भी रहा कि जो रचनाएं मुझे इतनी प्रिय रही हैं वे हिंदी पाठकों को भी सुलभ होनी चाहिएं। अपने शिक्षक, महान लेखकों के प्रति श्रद्धांजलि का यह भी एक तरीका ही था और यहां रूसी लेखक मेरे आदर्श थे। बहुत भीतर अवचेतन में शायद एक कारण यह भी रहा होगा कि मैंने हिंदी में एम.ए. किया था — अनुवाद की प्रक्रिया में अंग्रेजी को ज्यादा अच्छी तरह समझने के प्रशिक्षण का यही सबसे आसान तरीका था। अनुवादों के संशोधन के दौरान वह निश्चित रूप से हुआ, क्योंकि ये सारे अनुवाद, मूल भाषा जानने वालों के साथ बैठकर संशोधित किए — फादयेव का उपन्यास पी.पी. एच. के मुंशी (रामविलास शर्मा के छोटे भाई रामशरण शर्मा) के साथ और तुर्गनेव के महादेव साहा के साथ। चेखव के नाटकों को तीन अंग्रेजी अनुवाद सामने रखकर एक-एक पंक्ति के सहारे.... आज कह सकता हूं कि अंग्रेजी जानने से अधिक यह प्रशिक्षण अपनी भाषा को अधिक गहराई और बिल्कुल नए सिरे से आविष्कृत करने का प्रशिक्षण भी था। निश्चय ही अनुवाद अपनी भाषा की क्षमताओं, शब्दों और मुहावरों को खंगालने की ऐसी प्रक्रिया है जो लेखकीय औजारों को धार देती है। सही और सटीक शब्द का पर्याय तलाश करने की कोशिश में आप अपना सब कुछ उलटते-पलटते रहते हैं। मैं इसे लेखकीय रियाज का अनिवार्य हिस्सा मानता हूं।

सिर्फ अंग्रेजी जानने की मजबूरी के चलते, मुझे लगता है कि दोनों भाषाओं के मुहावरे, शब्दार्थ और अभिव्यक्तियां इतने पूर्वनिश्चित हो जाते हैं कि मूल-लेखक की अपनी विशिष्टता लगभग पकड़ में नहीं आती। कांस्टांस गार्नेट चाहे टॉल्सटाय, चेखव के अनुवाद करें या दोस्तोयव्स्की, तुर्गनेव के — सबकी भाषा एक जैसी है। जाहिर है, हिंदी में भी वही होगा। इस सपाटीकरण में विषय-वस्तु तो किसी हद तक बची रह जाती हो लेकिन हर लेखक की अपनी भाषिक विशिष्टता उस रूप में नहीं आ पाती जिसने उसे अपने साहित्य में अलग पहचान दी रही होगी। किसी भी लेखक की अपनी विलक्षणता उसकी अपनी भाषा-शैली भी तो है — पहले अंग्रेजी और फिर हिंदी में आते-आते उसमें कितना कुछ रह जाता होगा, यह कहना मुश्किल है।

अनुवाद मूलतः उस सही पर्याय की तलाश है जो शब्दकोश में कहीं नहीं मिलता। हर भाषा का अपना संस्कार, इतिहास, परंपरा, मिजाज या रिवायत है और जरूरी नहीं है कि अपने देशकाल से अलग दूसरी भाषा में भी वह ठीक वैसा ही मिले। सारी जंग यही है कि मूल भाषा के प्रति अधिक से अधिक ईमानदार रहते हुए हम कैसे अपनी भाषा के लिए बेईमान न हों — अपनी भाषा और भाषा में रहने वालों की मानसिकता को धक्का या धोखा न लगे। सारे अच्छे अनुवाद या तो मूल भाषा को धोखा देते हैं या अपनी भाषा को। मानकर चला जाता है कि मूल पाठ कहीं-न-कहीं अधिक श्रेष्ठ या प्रामाणिक है इसलिए अनजाने ही अपनी भाषा दूसरे स्तर पर उतर आती है। यानी आप उसके साथ 'मनमानी' करने की छूट ले लेते हैं। यह 'छूट' प्रायः अपनी भाषा को नकली, निर्जीव और अपठनीय बना देती है। अनेक बार पढ़ने, समझने और घोटने की प्रक्रिया में मूल भाषा का वाक्य-विन्यास कुछ इस तरह दिमाग और सोच पर हावी हो जाता है कि अपनी भाषा की हम चिंता ही नहीं करते और मानकर चलते हैं कि मूल पाठ ज्यों का त्यों अपनी भाषा में भी ठीक उसी सटीकता से अभिव्यक्त हो रहा है — जबकि अपनी भाषा में न शब्द सही होते हैं, न वाक्य-विन्यास।

हिंदी ही क्या, हर भाषा में ऐसे अनुवाद भरे पड़े हैं जहां या तो मूल मंतव्य और भाषा को समझा ही नहीं गया है या अपनी भाषा की ऐसी रेड़ मारी गई है कि न वहां मूल मंतव्य है, न भाषा। उसे पढ़ने से कम सरदर्द मूल को ही पढ़ना है।

कितनी बड़ी ट्रेजेडी है कि जिस सदाशयता से आप किसी प्रिय रचना के अनुवाद की दुनिया में उतरते हैं, अपनी प्रक्रिया और परिणति में सबसे पहला नाश उसी का होता है। इसके लिए अक्सर लोग अंग्रेजी मुहावरे का सहारा लेते हैं कि अनुवाद उस स्त्री की तरह है जो अगर सुंदर है तो वफादार नहीं है और वफादार है तो सुंदर नहीं है। तत्वतः देखें तो हर रचना एक स्तर पर अनुवाद ही है। हमारे भीतर जो कुछ अनुभूतियों, बिंबों और संस्कारों में घटित हो रहा है उसे शब्दों या भाषा में अनुवादित करने के संघर्ष को हर लेखक रोज महसूस करता है। यहां बहुत कुछ छूट जाने या जैसा है ठीक वैसा ही अभिव्यक्त न कर पाने की बेवफाई सबसे ज्यादा कचोटती है। समृद्धतम भाषाओं के लेखक अभिव्यक्ति की असमर्थता, नाकाफीपन और नकली या ऊपरी होने की सचाई से त्रस्त रहे हैं और इसी प्रक्रिया में उन्होंने अपनी भाषा को अधिक समृद्ध बनाया है। मौलिक लेखन में इस नाटकीय उठा-पटक के केंद्र आप स्वयं हैं – भोगने और कहने वाले दुहरे व्यक्तियों के बावजूद हैं तो आपके ही अंश। सारी परेशानी तो वहां है जहां भोगने और कहने वाला आपसे हजारों मील या सैकड़ों साल पहले की दूरियों पर बैठा है और उसकी बात आपको अपनी भाषा में कहनी है। यहां अपनी भाषा सबसे बड़ी बाधा है, मगर आपका एकमात्र सहारा भी वही है।

भाषा हम स्वयं नहीं गढ़ते, वह हमें बनी-बनाई मिलती है, जिसे न जाने कितनों ने, कितने सालों में बनाया है। आप सिर्फ उसमें शामिल होकर अपना रंग देते हैं। वह आपके अपने भीतर होती है, मगर रचना में अपने आप से तोड़कर उससे एक बाहरी तत्व की तरह जूझना पड़ता है। उस गुत्थम-गुत्था की कल्पना ही की जा सकती है जहां मूल भाषा और अपनी भाषा दोनों बाहरी हैं और आपको जैसे-तैसे अपनी तरह उन्हें साधना पड़ता है। हिंदी में यह द्वंद्व और भी गहरे स्तरों पर है क्योंकि अंग्रेजी तो बाहरी है ही, कमबख्त हिंदी भी अपनी नहीं है, वहां भी ब्रज, अवधी, भोजपुरी जड़ में बैठी है 'मातृभाषा' बनकर। यानी 'अनुवादित' हिंदी में हम अंग्रेजी से अनुवाद करते हैं।

हमारी मजबूरी है कि दुनिया की हर भाषा की रचना को हम अंग्रेजी में ही पढ़ने को अभिशप्त हैं। यह दुहरा-तिहरा अनुवाद अक्सर एक अविश्वास के बीच घटित होता है : पता नहीं, मूल क्या रहा होगा जिसका सपाट यह अंग्रेजी अनुवाद है, या उसे किस तरह हम अपनी भाषा में ला पा रहे हैं। मुझे हर क्षण यह कचोट बनी रही है कि अपने श्रद्धेय रचनाकार के साथ धोखा कर रहा हूं। मगर आज जब देखता हूं और दूसरे भी बताते हैं कि अनुवाद बुरे नहीं हैं, वे मूल के प्रति कितने वफादार हैं, यह बताना तो मुश्किल है। हां, अंग्रेजी के साथ भी बहुत बेईमानी नहीं की गई है।

एक भाषा में महसूस करना और दूसरी में लिखना एक दूसरी अविश्वसनीयता को जन्म देना है। पिछले दो सौ सालों से अंग्रेजी ने जिस तरह हमारी मानसिकता को गढ़ा है वह लगभग हमारा संस्कार बन गई है। प्रायः हर स्थिति में पहला शब्द अंग्रेजी का आता है। उसका सटीक पर्यायवाची अपनी भाषा में प्रायः नहीं ही मिलता। या तो सीधे उसे ही रखना पड़ता है या संदर्भ के अनुसार उसकी व्याख्या करनी होती है। यह कठिनाई सबसे अधिक वैचारिक या अमूर्त विषयों को लेकर होती है – वहां हमारे जीने की और सोचने की दो स्पष्ट अलग भाषाएं हैं। यह तय करना मुश्किल हो जाता है कि हम किसका किस भाषा में अनुवाद कर रहे हैं। अक्सर ही हमारे ऊपर आरोप लगता है कि हम लोग अंग्रेजी में सोचते और हिंदी में लिखते हैं। उधर भारतीय अंग्रेजी लेखकों पर आरोप है कि वे अपनी भाषाओं में सोचते और अंग्रेजी में लिखते हैं। यानी हम दोनों जगह न सहज हैं, न स्वाभाविक। मूल अपने भीतर हो या बाहर, मुझे तो लगता है कि अनुवाद सिर्फ एक प्रॉक्सीमेशन है यानी अधिक से अधिक मूल का प्रतिनिधि या नैकट्य.... दूसरे शब्दों में, 'रचना के ढांचे में प्रतिरचना' – के साथ जुड़ना है। भारतीय दर्शनग्रंथों की टीकाएं ऐसी प्रतिरचनाओं का श्रेष्ठ उदाहरण हैं। हर अनुवाद, मूल का पुनर्प्रस्तुतीकरण करने की प्रक्रिया में सिर्फ एक व्याख्या – इंटरप्रिटेशन ही है – रचना के ढांचे में एक प्रतिरचना ... मुझे लगता है अनुवाद शब्दों का होता है, भावों का होता है या इन सबके पार मूल मंतव्य का होता है। यह समस्या हमेशा ही हमें परेशान करेगी।

अनुवाद सिर्फ भाषांतरण ही नहीं, एक सांस्कृतिक प्रतिक्रिया भी है। भाषा के माध्यम से दो संस्कृतियां एक दूसरी में प्रवेश करती हैं – कभी मैत्री भाव से तो कभी प्रतिद्वंद्वी बनकर। मैं सम्मोहन, आकर्षण, प्यार और समर्पण के जोम में अंग्रेज लड़की को अपनी पत्नी बनाता हूं, वह भी अपने पूर्वग्रह छोड़कर मेरा और मेरे परिवार का हिस्सा बनने लगती है। मगर जिंदगी भर वह हमारी 'जैसी' ही बनी रहती है, 'हम' नहीं बनती। हमारे जैसा बनने के उसके सारे प्रयास मनोरंजक, मेरे अहं को संतोष देने वाले, सिखाने की सफलता का समर्थन करने वाले और कभी झुंझलाहट और चिढ़ पैदा करने वाले बने रहते हैं। तीस साल बाद भी सोनिया गांधी विदेशी यानी भारतीय अनुवाद बने रहने की नियति जी रही हैं। संस्कृतियों की इस द्वंद्वात्मकता में न हम सहज हैं, न वह। दो अलग रसायनों से बनी इस मानसिकता की फांक अनुवाद में सबसे अधिक उजागर होती है, रहन-सहन बुनियादी शब्द-समूह और संवादों, या संबोधनों में यह तनाव और दूरी एक नहीं होने देती। 'बापू' शब्द मेरी चेतना में जो तस्वीर बनाता है, 'डैड' या 'पापा' होते ही वह धोती-कुर्ता छोड़कर कमीज-पैंट पहन लेता है। संयुक्त परिवारों के जिस गैर-महानगरीय परिवेश में हमारी भाषा विकसित हुई है वहां सीधे-सीधे आत्मीय और अंतरंग संबोधन नहीं हैं – बड़ों के सामने न मैं बेटे-बेटी को गोद में खिलाते हुए लाड़-लड़ा सकता हूं, न पत्नी से सीधे-सीधे बात कर सकता हूं, वह जिंदगी भर 'तेरी भाभी/चाची,' 'मुन्ना की मां' या और कुछ नहीं तो 'बरेली-कानपुर वाली' ही बनी रहती है। रामविलास शर्मा ने जिंदगी भर भाभी को 'मालकिन' ही कहा – शायद नौकरों-चाकरों की नकल में। ऐसी 'सांस्कृतिक' पृष्ठभूमि में अंतरंग संबोधनों वाले अंग्रेजी संवादों का अनुवाद सचमुच विकट समस्या है : डार्लिंग, बेबी, स्वीटी वहां सहज, आत्मीय संबोधन हैं, हिंदी में 'जाने मन' बाजारू हो जाता है और 'प्यारी' या 'प्रियतमा' निहायत नकली या किताबी। हम अभ्यस्त तो जिंदगी भर 'सुनो जी' कहने के रहे हैं। ऐसे में या तो इन संबोधनों को छोड़ना पड़ता है या ज्यों का त्यों लेना। उसी तरह प्लेट और थाली, पिगटेल और चोटी, एक ही नहीं हैं। प्रताप नारायण श्रीवास्तव नाम के उपन्यासकार 'शेकहैंड' के लिए 'हस्तमर्दन' शब्द का इस्तेमाल करते थे। 'किस' और चुंबन दो अलग व्यक्तियों या क्रियाओं के बिंब मन में जगाते हैं। भारतीय भाषाओं में, इतनी अधिक सांस्कृतिक एकता है कि मलयालम या कन्नड़ रचना का अंग्रेजी से हिंदी में अनुवाद करना मुझे हमेशा अपमानजनक लगता है।

मगर इन सारे अवरोधों और बाधाओं के बावजूद हिंदी में हमेशा से विदेशी रचनाओं के अंग्रेजी से अनुवाद होते रहे हैं। एक-एक रचना के अलग-अलग अनुवाद देखकर लगता है कि साहित्यिक सौंदर्य के प्रति स्वतःस्फूर्त आकर्षण ही इनकी प्रेरणा रहा है। शेक्सपीयर की रचनाओं के अलावा, *गीतांजलि, मेघदूत,* उमरखैयाम की रुबाइयां, खलील जिब्रान की कहानियां, *एक अनजान*

औरत का खत (स्टीफेन ज़्विग), *मां* (गोर्की) के दर्जनों अनुवाद मैंने देखे हैं। सोवियत युग में रूसी रचनाओं के अनुवादों का अटूट सिलसिला था। उसके विपरीत अमेरिकन-प्रचारतंत्र के आर्थिक रूप से अत्यंत लाभदायक अनुवाद राजनैतिक पैंफलेटों (हैंडआउटों) या रूस के लिए असुविधाजनक रचनाओं से आगे नहीं बढ़ पाए। ये अनुवाद भी निहायत गलत, फूहड़ और भ्रष्ट हैं। उधर रूसी आग्रह, प्रचार के साथ, अपने यहां के क्लासिक साहित्य को सुलभ मूल्य में उपलब्ध कराना अधिक रहा है। मगर उनके अनुवाद भी मशीनी ही अधिक हैं, मूल के प्रति वफादार रहने के अतिरिक्त आग्रह में हिंदी अनुवाद लगभग असंप्रेषणीय हो जाते हैं। *अन्ना कैरेनिना* जैसी रचना का अनुवाद पढ़कर झुंझलाहट होती है कि इन कमबख्तों को अनुवाद कर चुकने के बाद हिंदी ठीक करने वाला कोई नहीं मिला। यह ठस्सपना भीष्म साहनी जैसों के अनुवादों में भी है। वहां अपवाद नरेश बेदी और जितेंद्र रघुवंशी जैसे कुछ लोग ही हैं। मूल भाषा के प्रति अतिरिक्त वफादार रहने का आग्रह हिंदी अनुवाद को कितना भ्रष्ट, अपठनीय और कूड़ा बना देता है इसका उदाहरण शरत चंद्रा द्वारा किए गए कामू के अनुवाद हैं। यह शब्दमार (चिड़ीमार की तर्ज पर) करतब सरकारी प्रतिष्ठानों की भी विशेषता है। मेरी अपनी धारणा है कि अनुवाद को हमेशा उस व्यक्ति से संपादित कराना चाहिए जो न मूल भाषा जानता हो, न रचना। इस मामले में अंग्रेजी में अपनी भाषा के लिए आग्रह अधिक है। अधिकारियों पर अगर विश्वास किया जाए तो काफ्का या सोलजेनित्सिन के अंग्रेजी अनुवाद तीस-चालीस प्रतिशत भ्रष्ट, गलत और अधूरे हैं। अब हमारी हालत का अंदाजा कीजिए कि उन्हीं पर निर्भर होकर हम उनकी 'महानता' को हिंदी में पाना चाहते हैं। मूल के प्रति वफादारी का आश्वासन कितना है इस बात को अगर छोड़ दिया जाए तो भालचंद्र जौहरी द्वारा अलैक्जांद्र कुप्रिन का *गाड़ीवालों का कटरा,* अमृतराय का *आदिविद्रोही* (हावर्ड फास्ट), बच्चन का *हैमलेट* और उमर खैयाम की रुबाइयां जैसे कुछ अनुवादों को 'प्रतिरचना' का नाम दिया जा सकता है। इसी सूची में मैं निर्मल वर्मा के *रोमियो जूलियट* और *अंधेरा* (यान ओत्चेनाशेक), मोहन राकेश के *उस रात के बाद* (द एंड ऑफ एन अफेयर) और अपने *अजनबी* (आल्बेयर कामू) या किसी हद तक प्रभा खेतान के *स्त्री उपेक्षिता* (सैकिंड सैक्स) को भी रखना चाहूंगा।

इधर जो चीज मुझे चकित करती है वह है पिछले तीस-चालीस सालों में अनुवादों का लगभग गायब हो जाना। सही है कि शीतयुद्ध के अमेरिका और रूस में अब यह मुद्दा किसी प्राथमिकता में नहीं रह गया है, फिर भी श्रेष्ठ रचनाओं के आकर्षण क्या बिल्कुल ही खत्म हो गए हैं? *सैकिंड सैक्स* जैसी पुस्तक को बीसियों वर्ष पहले आ जाना चाहिए था, सार्त्र के एकाध नाटक और कहानियों को छोड़कर कोई अनुवाद मेरे देखने में नहीं आया, पास्तरनाक के *डा. जिवागो* के अच्छे अनुवाद की आज भी प्रतीक्षा है। मार्खेज या कुंडेरा के किसी उपन्यास को हिंदी में देखने के लिए पाठक तरस रहे हैं। पिछले बीस सालों में 'ब्लैक लिटरेचर' या अश्वेत साहित्य का इतना शोर है, मगर न्गुगी थ्वांगो के एक उपन्यास को छोड़कर मेरे देखने में सिर्फ कुछ कहानियां हैं जो या तो *हंस* में ही आई हैं या आनंदस्वरूप वर्मा ने की हैं। इस उदासीनता की जड़ें कहां हैं? विदेशी साहित्य में सचमुच हमारी रुचि समाप्त हो गई है या हम स्वयं अंग्रेजी में इतने निष्णात हो गए हैं कि वहीं पढ़कर संतोष कर लेते हैं।

सुनते हैं, व्यावसायिक लाभ की संभावनाओं के चलते सलमान रुश्दी और विक्रम सेठ के कुछ अनुवाद आ रहे हैं, मगर कहां गया वह स्वतःस्फूर्त अनुवादों का दौर जब एक-एक रचना के दर्जनों अनुवाद सामने आते थे? क्या इसके पीछे यह भागदौड़ है कि लेखक के पास समय और धैर्य नहीं है, कि वह अपना लिखे या अपनी प्रिय रचना का अनुवाद करे? 'यह रचना हिंदी पाठकों को भी सुलभ की जानी चाहिए' की मिशनरी भावना शायद बहुत पहले ही समाप्त हो चुकी है, मगर अनुवाद खुद लेखक के लिए सबसे बड़ा प्रशिक्षण है, क्या इस सच का भी लोप हो गया है और क्या हिंदी लेखक की भाषागत असावधानी या अराजकता के पीछे यही कारण तो नहीं है कि उसने दूसरी भाषा से जूझते हुए अपनी भाषा के आविष्कार : एक-एक शब्द को चिमटी से पकड़कर उसकी जांच-परख का अनुशासन गैर-जरूरी मान लिया है? हो सकता है नई उत्तर-आधुनिक स्थितियों में वर्चस्ववादी साहित्य के अप्रासंगिक होते जाने के लक्षण अनुवादों के प्रति इस उपेक्षा में भी प्रकट हो रहे हों – जब लेखक, विचारधारा, इतिहास और भविष्य सभी समाप्त हो चुके हों तो कालजयी या उत्कृष्ट रचना की मां कब तक खैर मनाएगी? कालजयी या उत्कृष्ट रचना की परिभाषाएं स्वयं आज संकटग्रस्त हैं। बकौल सुधीश पचौरी (वाया विदेशी विचारकों के) जब सभी कुछ सूचनाएं हैं तो सूचनाओं की औकात या जिंदगी क्या? शायद, स्थितियों की ऐसी उठापटक में न अपने लेखन के प्रति आस्था बची रह सकती है न दूसरों के ... जो कुछ लिख लें और जल्दी से जल्दी उसे वसूल कर लें – यही गनीमत है। पहले दूसरों के सहारे हम जो यश और धन प्राप्त कर लेते थे शायद वह शॉर्टकट भी अब जरूरी नहीं रह गया है।

और इस माहौल में रमेशचंद्र सिन्हा जैसों द्वारा होमर के महाकाव्य *इलियड* का और राजी सेठ द्वारा रिल्के के पत्रों का (अंग्रेजी से प्रामाणिक) अनुवाद लेकर आना पता नहीं हास्यास्पद लगता है या श्रद्धास्पद। हां, वह पंक्ति जरूर याद आती है कि *अकबर नाम लेता है खुदा का इस जमाने में ...!* ❑

सुरों के साधक

शंभुनाथ मिश्र

अमीर खुसरो से लेकर कुमार गंधर्व तक भारतीय परंपरा के 55 उल्लेखनीय संगीतज्ञों के जीवन और कला के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी देने वाली पुस्तक।

पृष्ठ संख्या : 191 मूल्य : 50 रुपये

'आजकल' के वार्षिक ग्राहकों को दस प्रतिशत की विशेष छूट।

संपर्क :
व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग
पटियाला हाउस,
नई दिल्ली - 110001

आलमगीर

भीष्म साहनी के नाटक के दो दृश्य

औरंगजेब का चरित्र विवादास्पद नहीं है, कम से कम मैं उसे विवादास्पद नहीं समझता। सूफी मत की जो उदारवादी लहर उत्तर भारत में चली थी और जो पंद्रहवीं से सत्रहवीं शताब्दी के बीच उतनी ही प्रबल रही थी जितनी भक्ति भाव की लहर, उसमें औरंगजेब का विश्वास नहीं था। उसकी धार्मिक आस्था में उदारवादी वृत्ति का कोई स्थान नहीं था, विशेष रूप से उस उदारवादी वृत्ति का जिसका सूत्रपात अकबर ने किया था और जो अकबर के बाद भी बनी रही और दारा शिकोह जिसका प्रबल समर्थक था। इस बारे में दो राय नहीं हैं।

लेकिन औरंगजेब के चरित्र की अपनी पेचीदगियां थीं जिस कारण वह अपने आप को भी झुठलाता था और अन्य लोगों को भी। व्यक्तिगत जीवन में सादापन, अपने हाथ की मेहनत की कमाई, धार्मिक निष्ठा—यह रहते हुए भी वह बेहद महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। ईर्ष्या और द्वेष उसी वृत्ति की उपज थे। शाहजहां द्वारा दारा को दी गई सरपरस्ती को वह सहन नहीं कर पाता था। इसमें संदेह नहीं कि युद्ध और रियासत दोनों के दाव-पेच वह खूब जानता था। पर ज्यों-ज्यों उसके हाथ में सत्ता आती गई उसकी तंगनजरी बढ़ती गई। हरेक को शक की नजर से देखने लगा, और इसी कारण उत्तरोत्तर अकेला पड़ता गया। एक ओर जहां मुगलिया सल्तनत को फैलाता गया, दूसरी ओर उसे खोखला भी करता गया और इसी तरह मुगलिया राज्य के विनाश का कारण बना।

दारा का चरित्र उसके चरित्र से बहुत भिन्न है। इसमें संदेह नहीं कि यदि सत्ता की बागडोर दारा शिकोह के हाथ में आई होती तो उसकी नीति उसकी दृष्टि के अनुरूप अधिक उदार होती और इस तरह शायद एक बहुजातीय-बहुधर्मी देश का राजनीतिक आधार ज्यादा मजबूत होता। लेकिन जहां औरंगजेब अधिक व्यवहारकुशल, ज्यादा पैनी सूझ और दृढ़ निश्चय वाला व्यक्ति था, वहां दारा आदर्शवादी और भावुक व्यक्ति था, औरंगजेब के मुकाबले में उसका पराजित होना एक तरह से अनिवार्य ही था।

नाटक में दोनों के चरित्र सामने लाने की कोशिश है। पर जहां दारा एक नृशंस प्रतिस्पर्धी की ईर्ष्या और द्वेष का शिकार बना, वहां औरंगजेब अपनी ही चरित्रगत विसंगतियों का शिकार बना।

कुछेक बातों में वह युग निराला था। शासक वर्ग में निष्ठा अथवा वफादारी नाम का गुण बहुत कम पाया जाता था। जो राजपूत राजा पहले शाहजहां तथा दारा के पक्षधर थे, दारा के पराजित होते ही वे औरंगजेब से जा मिले थे। यह सिलसिला बराबर चलता रहा। शाहजहां के उमरा, शायिस्ता खां आदि ने भी ऐसा ही किया। इसमें हिंदू, मुसलमान की बात नहीं थी। और तख्त पर बैठने के भी कोई नियम नहीं थे। बादशाह भले ही अपने किसी बेटे को अपना जानशीन नामजद कर दे, कोई ऐसा कानून अथवा परंपरा नहीं थी कि वही तख्त पर बैठेगा। खून की नदियां बहाकर ही वे राजसिंहासन तक पहुंचते थे। औरंगजेब ने भी ऐसा ही किया और उसके बेटे उसके विरुद्ध खड़े होने लगे थे। उसका बड़ा बेटा अकबर तो राजपूतों से जा मिला था और लंबा-चौड़ा लश्कर लेकर—जिसमें दुर्गादास की सेना भी शामिल थी..... दिल्ली की ओर चल पड़ा था। उस काल की राजनीति में धर्म का कितना दखल था, इसे आज के हमारे नजरिए से नहीं देखा जा सकता। उस घटनाचक्र को उसी परिवेश में रखकर देखना और समझना जरूरी है। नाटक में ऐसा परिवेश दिखाने की भी कोशिश की गई है।

—लेखक

दूसरा दृश्य

[मंच पर कबीरपंथी बाबा लाल और दारा शिकोह]

दाराः बड़ी दुश्वारियां थीं, बाबा लाल जी, करीब दस महीने तक मुहासिरा चलता रहा। ..... *(हंसकर)* और मैं कहूं कि कब यह पचड़ा खत्म होगा और मैं चैन की सांस लूंगा और आप लोगों के पास इल्म और फलसफे की दुनिया में लौट पाऊंगा। मेरी बहन जहांआरा भी आपसे मिलना चाहती हैं। वह अपनी दो किताबें आपको दिखाना चाहती हैं। उन्होंने दो सवान-ए-उमरियां लिखी हैं, एक सूफी संत मुईन उद्दीन चिश्ती की और दूसरी, मेरे मुर्शिद, मुल्ला शाह की। और भी बहुत कुछ लिखती रहती हैं।

बाबा लालः बड़े चाव से देखेंगे, शाहजादा। .....

दाराः आपसे मिलता हूं तो मेरे दिल में उछाह फिर से लहरें लेने लगता है। आपको तो हमने अपना गुरु मान लिया है।

बाबा लालः ऐसा न कहिए, शाहजादा। यह दर्जा मैं नहीं ले सकता। क्या आप जानते हैं, हमारे यहां गुरु किसे मानते हैं?

दाराः फरमाइए।

बाबा लालः कहा है, गुरु अनेक प्रकार के होते हैं। एक गुरु है जैसे खरा सोना। वह अपने में तो खरा सोना है पर वह और किसी चीज को खरे सोने में बदल नहीं सकता। एक और गुरु है जैसे पारस पत्थर।

वह हर धातु को सोना बना देता है, पर धातु के अलावा किसी चीज को सोना नहीं बना सकता। असल गुरु वह है जैसे चिराग, वह अकेला हजारों दियों को रोशन कर सकता है।

दाराः खूब कहा, बाबा लाल जी, वाह, खूब कहा। ... बिल्कुल सही कहा। ..... आपको एक वाकिया सुनाऊं। कंधार की घाटी में पहली बार जब मैं रात को खुले, तारों भरे आसमान के नीचे सोया तो मैं दंग रह गया। देर तक उस मंजर को निहारता रह गया। बार-बार कहूं, या रब, तेरी कायनात कितनी अजीम, कितनी हसीन है। मुझे लगा जैसे खुंदावंद ताला ने अपनी कायनात के खजाने उंडेल दिए हैं, अपनी बख्शिश से बनी-ए-नौ इंसान को मालामाल कर दिया है। कितनी हसीन है यह दुनिया! तभी मुझे एक सूफी दानिश्वर का कलाम याद आया। एक जगह उन्होंने फरमाया है कि हुस्न ही वह कड़ी है जो इंसान की रूह को खुदावंद ताला से जोड़ती है।

बाबा लालः वाह, बहुत अच्छा!

दाराः मैं सोचता हूं सूफियों पर अफलातून के विचारों का असर रहा है, जैसा आपके भक्त कवियों पर उपनिषदों का। ऐसा मैंने उपनिषदों का अनुवाद करते समय पाया।

बाबा लालः आपने बहुत काम किया है, बहुत अध्ययन किया है, कितने ही उपनिषदों का अनुवाद कर डाला, योग वशिष्ठ का, भगवद् गीता का .....

दाराः कौन जाने ये अनुवाद धरे के धरे रह जाएं!

बाबा लालः इंसान के बस में तो उसकी मेहनत ही मेहनत है और उसकी लगन।

दाराः *(मुस्कराकर, धीमी आवाज में)* आपको एक राज की बात बताऊं?

बाबा लालः कहिए।

दाराः मैं एक छोटी-सी किताब पर काम कर रहा हूं। मैंने तो उसका नाम भी सोच लिया है। नाम होगा—'मजमउल बहरैन'। हिंदवी में उसे कहेंगे—दो सागरों का मिलन। उसमें, हिंदू धर्म और इस्लाम में जो साझे तत्व पाए जाते हैं, उन पर रोशनी डाली गई है। वेदों में एकेश्वर को लेकर जो ऋचाएं भरी पड़ी हैं, उन्हीं का सार बाद में उपनिषदों में मिलता है। उपनिषदों को तो मैं एकेश्वरवाद का महासागर मानता हूं। अपनी इस किताब में मैंने दोनों धर्मों के बीच पाई जाने वाली मुशाबहत दिखाने की कोशिश की है।

बाबा लालः जरूर, इसे पूरा कर डालिए।

दाराः इसे मैं अपने घर-परिवार के लोगों को पढ़ने के लिए दूंगा। मैं चाहता हूं वे लोग इन बातों को जानें।

बाबा लालः बेशक! ..... आपने बहुत काम किया है, आगे भी बहुत कुछ करेंगे।

दाराः जब, यह छोटी-सी किताब 'मजमउल बहरैन' मुकम्मल हो जाए तो मैं समझूंगा कि मैंने अपना फर्ज निभा दिया।

[खटाक की आवाज! सहसा जहांआरा भागती हुई अंदर आती है, फिर ओट में हो जाती है]

जहांआराः भाईजान, शाहजादा औरंगजेब तशरीफ लाए हैं।

दाराः *(तनिक चौंक जाता है)* औरंगजेब! *(बाबा लाल से)* बाबा लाल जी, मैं जल्दी ही आपको बुला भेजूंगा। आपके साथ बहुत-सी बातों पर विचार करना है। ..... मेरे भाई दक्खिन से तशरीफ लाए हैं।

बाबा लालः जरूर मिल बैठेंगे। *(बाबा लाल का प्रस्थान)*

(बाबा लाल बाहर जा रहा है। जब औरंगजेब अंदर आता है, उसकी नजर बाबा लाल पर पड़ती है और वह उसे बाहर जाते देखता रहता है)

औरंगजेबः अब ये लोग महल के अंदर भी आने लगे हैं। .....

दाराः कहो भाईजान, बादशाह सलामत आज ही सुबह तुम्हारे बारे में पूछ रहे थे।

औरंगजेबः मैं हुक्म उदूली कैसे कर सकता था! यहां से हुक्मनामा गया कि फौरन आगरा पहुंचो, मैं उसी वक्त चल पड़ा।

दाराः *(हंसकर)* हुक्मनामा मेरी तरफ से नहीं, बादशाह सलामत की तरफ से गया होगा।

औरंगजेबः मैं क्या जानूं, हुक्मनामों पर मोहर तो जहांपनाह की होती है, पर तहरीर दारा शिकोह की जान पड़ती है ..... मुझ पर यह हुक्म सादिर हुआ कि गोलकुंडा के किले का मुहासिरा उठा लो और फौरन चले आओ। वह भी ऐन उस वक्त जब मुहासिरा कामयाब हो रहा था, किले की फसील टूट चुकी थी और हमारे फौजी दस्ते किले में दाखिल होने लगे थे। *(उत्तेजित होकर)* मुहासिरा कब उठाया जाए इसका फैसला मौके पर बैठा सालार करता है, या हजारों कोस दूर बैठे दारा शिकोह करेंगे?

दाराः सभी फैसले तुम खुद ही करते हो, औरंगजेब!

औरंगजेबः कौन-से फैसले?

दाराः इसकी वजाहत तो बादशाह सलामत ही करेंगे।

औरंगजेबः बेशक! ..... भले ही मुगलिया सल्तनत गारत में जाए।

(जहांआरा का प्रवेश)

जहांआराः किसे गारत में भेज रहे हो, औरंगजेब?

औरंगजेबः चिराग तले अंधेरा, जहांआरा! बादशाह सलामत ने शाहजहानाबाद की यह नई नगरी क्या बसाई है, उसकी चकाचौंध में तुम लोगों को कुछ भी सूझ नहीं रहा है। तुम क्या जानो मुगलिया सल्तनत का क्या हश्र हो रहा है। *(दारा की ओर इशारा करते हुए)* फलसफे बघारना, हुकूमत करना नहीं है। हर किसी से बगलगीर होते फिरना भी नहीं है। हाकिम तो दिल्ली में बैठा जेहनी ऐय्याशी करता रहे और हुकूमत चलाएं एलची ..... वाह जी!

दाराः तुम मुझ पर आ गए, औरंगजेब! क्या इल्म हासिल करना, रूहानी मसायल में दिलचस्पी रखना जेहनी ऐय्याशी है? तब तो अकबर बादशाह उम्र-भर जेहनी ऐय्याशी ही करता रहा होगा!

औरंगजेबः अकबर बादशाह ने क्या भूलें नहीं की हैं? उन्होंने ही हर मजहब के लोगों को सिर पर चढ़ा रखा था।

(रोशनआरा का प्रवेश)

रोशनआराः किस अहम मसले पर बहस चल रही है?

जहांआराः औरंगजेब वाअज फर्मा रहे हैं। अकबर बादशाह की जेहनी ऐय्याशी का जिक्र कर रहे हैं।

रोशनआराः तुम्हें कौन-सा मुगल बादशाह पसंद है, औरंगजेब?

औरंगजेबः मुझे? यकीनन बाबर। मैं बाबर बादशाह का एहतराम करता हूं। याद करो जब वह अपना लश्कर लेकर हिंदुस्तान में उतरा था। जांबाज

बाबर! कैसे मरहले पार करके आया था! कहते हैं, रास्ते में पड़ने वाले नदी-नाले तैरकर पार करता था। .... आज क्या है? आज हमारे उमरा किसी मुहिम पर निकलते हैं तो पालकियां में बैठकर, रेशमी अंगरखे और घाघरे पहने हुए।

जहांआराः और बाबर के बाद? हुमायूं, अकबर, जहांगीर?

औरंगजेबः कोई भी नहीं।

दाराः क्यों? हुमायूं ने क्या गुनाह किया है? हुमायूं एक बेहतरीन इंसान था, फराखदिल, हस्सास, इंसानी हमदर्दी का मुजस्समा ....

औरंगजेबः हुमायूं बड़ा बुजदिल, जेहन का कमजोर और ढुलमुल यकीन बादशाह था।

दाराः कितना आसान है छींटे कसना! गर्मजोशी के साथ हुमायूं में अपने दुश्मन तक को माफ कर देने की हिम्मत थी।

औरंगजेबः जो लोग दुश्मन को माफ करते हैं, वे अंदर ही अंदर दुश्मन से डरते हैं। उन्हें माफ करना, एक तरह से, उन्हें खुश करने की कोशिश होती है। मैं तुम्हें माफ करता हूं, इसके एवज तुम मुझे सताना छोड़ दो। (*व्यंग्य से*) हुमायूं माफ करता रहा और अपनी सल्तनत खोता रहा। यहां तक कि अपनी फौज के लिए हुमायूं को सिपाही ही नहीं मिल पाते थे।

दाराः मतलब कि इंसान को कभी भी दूसरे इंसान को माफ नहीं करना चाहिए। यही ना?

औरंगजेबः अपने दुश्मन को हर्गिज नहीं। उस वक्त जरूरत इस बात की थी कि मरकज़ में एक मजबूत सरकार हो। अब भी इसी बात की जरूरत है। *(जोर देकर)* एक मजबूत हुकूमत की, एक मजबूत हाकिम की।

दाराः *(व्यंग्य से)* वह तो मुगलिया सल्तनत को शायद तुम्हीं जुटा सकते हो!

औरंगजेबः मुझे हाकिम बनने की कोई हवस नहीं है, बड़े भाई! न ही शान-ओ-शौकत की! न ऐश-ओ-इशरत की! मैं टोपियां सीकर भी अपनी गुजर कर सकता हूं और इंशा अल्लाह करूंगा। लेकिन अगर मुझे हुकूमत करनी है तो पूरी मजबूती से करूंगा। हाकिम एक घुड़सवार की मानिंद होता है। लगाम खींचकर रखेगा तो घोड़ा उसके काबू में रहेगा, ढील देगा तो घोड़ा किसी वक्त भी उसे पटक सकता है।

बड़े भाई, आप अकबर और हुमायूं के नक्श-ए-कदम पर चलना चाहते हो, जबकि मैं बाबर के नक्श-ए-कदम पर।

दाराः मैं मुगलिया सल्तनत की बहबूदीं चाहता हूं।

औरंगजेबः मैं भी यही चाहता हूं।

(चोबदार का प्रवेश)

चोबदारः बादशाह सलामत ने आप सबको याद फरमाया है।

(दारा और जहांआरा का प्रस्थान)

रोशनआराः यहां हर फैसला इन दोनों की राय से लिया जाता है। अब तो दारा भाई के लिए दरबार में तख्त भी बिछा दिया गया है। अब तो वह वली अहद की हैसियत से हुकूमत में हाथ बंटाया करेंगे। ..... फिर तुम्हें ही क्या पड़ी है दक्खिन में इतने जोखिम उठाने की?

औरंगजेबः *(हंसकर)* मुझे किले फतह करने का जुनून है रोशन, मुझे इसी में राहत मिलती है।

रोशनआराः पर कोई इसका कद्रदान भी तो हो। तुम जोखिम भी उठाओ, फिर भी तुम्हारे इरादों को शक की नजर से देखा जाए। इधर यह साहिब हैं, दारा शिकोह, इनकी हवेली में जहान भर के सूफी और दरवेश और पंडे घुसे रहते हैं। इनकी बीवी नादिरा भी आजिज आ गई हैं। इनकी शह पर शहर में सूफियों की बाढ़ आ गई है।

औरंगजेबः *(गंभीर, चिंतित लहजे में)* जिस वक्त जहांगीर बादशाह तख्त पर थे तो नक्शबंदिया सिलसिले के हजरत मुजद्दिद अलफ-ए-सानी ने बार-बार जहांगीर से ताकीद की थी, कि अकबर बादशाह ने अपनी जो मजहबी तहरीक चलाई थी, उस पर पाबंदी लगाएं और उसकी जगह सुन्नी उसूलों और शरिआ को बहाल करें।

रोशनआराः फिर?

औरंगजेबः जहांगीर बादशाह ने किसी एक खत का भी जवाब नहीं दिया। इसका नतीजा आज सामने आ रहा है। मुल्क में हजारों कादरिया सूफी पहुंच गए हैं। एक बात का वायदा करो, रोशन बहन, दरबार में होने वाली कारगुजारियों की मुझे खबर देती रहोगी, मैं बहुत दूर बैठा हूं।

[प्रस्थान]

(पर्दा)

नौवां दृश्य

[नादिरा, दारा, सिपह, मलिक जीवन के इलाके में]

(दारा एक ओर को चुपचाप खड़ा दूर पहाड़ों की ओर देख रहा है। नादिरा एक ओर निढाल-सी बैठी है।)

नादिराः तो क्या सोचा है, अब क्या करोगे?

दाराः सोच रहा हूं, मलिक जीवन के मश्विरे पर अमल करना ही ठीक रहेगा।

नादिराः वह क्या कहते हैं?

दाराः उसका कहना है कि यहां इंतजार करने के बजाय मैं काबुल चला जाऊं। वहां के सूबेदार महाबत खान की मदद से फौज इकट्ठा करूं। मलिक जीवन भी मेरी मदद करने के लिए तैयार है।

नादिराः क्या यह मलिक जीवन का मश्विरा है?

दाराः नहीं, इसी मंशा का खत बादशाह सलामत से भी मिला है। मलिक जीवन भी ऐसा सोचता है। *(नादिरा की ओर मुड़कर)* मलिक जीवन हर तरह मेरे साथ है। तुम्हें याद है, एक बार मैंने मलिक जीवन की जान बचाई थी। बादशाह सलामत उस पर बेहद नाराज थे। पर मेरे कहने पर उन्होंने उसकी जानबख्शी कर दी थी।

नादिराः मेरी मानो, फौजें इकट्ठा करने का ख्याल छोड़ दो।

दाराः यह तुम क्या कह रही हो, नादिरा? मैं हक की लड़ाई लड़ रहा हूं।

नादिराः हां, पर हालात तुम्हारे हक में नहीं हैं।

दाराः *(तुनक उठता है)* क्या मैं जीते जी हथियार डाल दूं? क्या मैं गले में पल्ला डालकर औरंगजेब के पास गिड़गिड़ाता हुआ माफी मांगने जाऊं?

नादिराः औरंगजेब से टक्कर लेना अब आपके बस का नहीं रहा। सभी उमरा उसके साथ जा मिले हैं। बादशाह सलामत को उसने नजरबंद कर दिया है।

दाराः जिसका पलड़ा भारी होगा, उमरा उसी के साथ जा मिलेंगे। पर जरूरी नहीं है कि सारा वक्त उसी का पलड़ा भारी बना रहे।

नादिराः हम अकेले पड़ते जा रहे हैं। अहमदाबाद का सूबेदार आपका एहसानमंद था, आपको अपना जिगरी दोस्त मानता था। उसने खुद आपको बुलाया। पर जब हम पहुंचे तो उसने शहर के फाटक ही बंद करवा दिए। अब क्या काबुल जाकर फौज मुनज्जम करोगे? मैं हाथ बांधती हूं, मेरी मानो, चुपचाप यहां से फारस चले चलो। फौज मुनज्जम करने का ख्याल छोड़ दो।

दाराः *(मानो अपने आप से बात करते हुए)* मेरे भी कुछ ख्वाब हैं, नादिरा! मैं उन्हें भुला नहीं सकता। *(तनिक चुप रहने के बाद)* मेरे जेहन में सारा वक्त एक शमा-सी जलती रहती है, जिसमें वे ख्वाब बार-बार रोशन हो उठते हैं।

नादिराः मैं क्या जानूं, पर हैं तो वे ख्वाब ही।

दाराः ख्वाब महज ख्वाब नहीं होते, नादिरा, वे जिंदगी की रूह होते हैं। इन ख्वाबों में जिंदगी की एक तस्वीर झलकती है। वही हमारी जिंदगी को नशो-व-नुमा देती है। इंसान भले ही टूट जाए, ख्वाब नहीं टूटते। इनका एक जर्रा भी बचा रहे तो जगमगाता रहता है। मैं सारा वक्त इस इंतजार में रहा करता था कि कब हुकूमत मेरे हाथ में आएगी और मैं इन ख्वाबों को अमली जामा पहना पाऊंगा।

नादिराः पर अब तो हम दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं।

दाराः *(सहसा बेचैन-सा हो उठता है)* तुमने मेरे साथ बहुत दुख उठाए हैं, नादिरा! मैं बहुत शर्मसार हूं, तुमसे भी और अपने इस पिसर—सिपह से भी। काश कि ये ख्वाब कभी पैदा ही नहीं हुए होते, पैदा होते ही मर गए होते, मेरे जेहन में कुलबुलाते नहीं रहते।

नादिराः तुम जो करोगे, मुझे सब मंजूर है, सिर-आंखों पर। तुम्हारे साथ मैं दुखी नहीं हूं। मैं तो तुम्हारे साए की तरह तुम्हारे साथ बनी रहूंगी। अगर मैं कहती हूं कि फौज मुनज्जम करने का ख्याल तर्क कर दो तो इसलिए कि दिल्ली लौट पाना अब हमारे बस का नहीं रह गया है। औरंगजेब ने हुकूमत हथिया ली है। हमारी बेहतरी अब इसी में है कि हम यहां से निकल जाएं। फारस चले जाएं। फिर बाद में कभी हालात मुआफिक हुए तो दल-बल के साथ लौट आना। ... आगे जो अल्लाह को मंजूर है।

दाराः हम किसी दिन दिल्ली लौटेंगे, नादिरा! फारस जाकर क्या करूंगा? दिल्ली छोड़ दूं? दिल्ली याद आती है तो दिल बेचैन होने लगता है। अपना मकतबा छोड़ दूं? जिंदगी भर के काम से पीठ मोड़ लूं? अपनी रियाया को भूल जाऊं? मुगलिया सल्तनत को भूल जाऊं?

नादिराः कुछ सोचो, अब गिने-चुने लोग हमारे साथ हैं। उनमें से भी हर दिन कुछ न कुछ हमें छोड़ जाते हैं। तीन बार हमारा सामान लूटा जा चुका है। हमारे मुलाजिम तक अब हमें आंखें दिखाने लगे हैं।

दाराः नादिरा, मैं हार कैसे मान लूं? बादशाह सलामत मेरे साथ हैं, रियाया मेरे साथ है, मेरे आमाल मेरे साथ हैं, मेरा हक मेरे साथ है।

नादिराः काश कि जंग के फैसले हक और इंसाफ की बिना पर होते। जंग के फैसले तो ताकत की बिना पर होते हैं।

(सुबक उठती है)

दाराः मत रो, नादिरा! यह रोने का वक्त नहीं है।

नादिराः मेरी सेहत गिरती जा रही है। अगर इसी तरह चलता रहा तो मुझे तुम कहां संभालते फिरोगे?

दाराः फिर तुम क्या चाहती हो, बेगम?

नादिराः मेरी मानो, फारस चले जाओ। मुझे बेशक यहीं छोड़ जाओ। सिपह तुम्हारे साथ होगा। जब हालात मुआफिक हुए तो लौट आना। तब देखा जाएगा। पर अब औरंगजेब से लड़ने का ख्याल छोड़ दो।

(मुलाजिम का प्रवेश)

मुलाजिमः हुजूर, मलिक जीवन तशरीफ लाए हैं।

दाराः उन्हें लिवा लाओ। *(सिपह से)* सिपह, मां को सहारा देकर अंदर ले जाओ। तुम आराम करो, नादिरा!

(नादिरा और सिपह का प्रस्थान)

किस्मत ने साथ दिया तो किसी दिन तुम्हें आराम पहुंचा पाऊंगा।

(मलिक जीवन का प्रवेश)

दाराः आओ, मलिक, आओ। तुम्हारा बहुत सहारा है, मलिक जीवन! तुम्हारे पास पहुंचा तो लगा अपने ठिकाने पर पहुंच गया हूं। मैं बहुत भटक चुका हूं। न जाने अल्लाह ताला को क्या मंजूर है! मुझे तुम मिल गए, मुझे लगने लगा है जैसे मेरी किस्मत का डूबता सितारा फिर से चमकने लगा है।

मलिक जीवनः मैं आपके एहसान कैसे भूल सकता हूं, शाहजादा?

दाराः नादिरा का कहना है कि हम ईरान चले जाएं। काबुल में फौज मुनज्जम करने का ख्याल छोड़ दें।

मलिक जीवनः फारस जाना हो तो वह तो काबुल से भी जाया जा सकता है। काबुल में फौजी कुमुक कहां तक मिल सकती है, इसका जायजा तो लिया जा सकता है।

दाराः *(उसका उत्साह फिर से जाग उठता है)* तुम ठीक कहते हो, मलिक जीवन! और फिर महाबत खान वहां मौजूद है। वह बादशाह सलामत का वफादार दोस्त है। इस मौके को हाथ से क्यों जाने दें?

मलिक जीवनः *(दारा को एक ओर ले जाकर)* मुझे पता चला है कि राजा जयसिंह और बहादुर खान अपने लश्कर के साथ आपका पीछा कर रहे हैं। अब आपका यहां रुकना खतरे से खाली नहीं है।

दाराः जयसिंह? क्या कहा? जयसिंह?

मलिक जीवनः जी हां, जयसिंह! वह औरंगजेब के साथ मिल गया है।

दाराः *(स्वतः)* जयसिंह भी! *(चौंक जाता है)* क्या उन्हें पता चल गया है कि मैं तुम्हारे इलाके में हूं?

मलिक जीवनः मैं कह नहीं सकता। आपकी बेहतरी अब इसी में है कि जल्दी से जल्दी यहां से निकल जाएं।

दाराः जयसिंह! जयसिंह ने भी साथ छोड़ दिया!

मलिक जीवनः *(दारा से)* अब आप यहां से निकल जाइए। ईरान तक बारह पड़ावों का सफर है। अल्लाह ताला ने चाहा तो आप खैरियत से जा पहुंचेंगे। मैं इस वक्त आपके साथ नहीं जा पाऊंगा। मैं दो दिन बाद आपसे जा मिलूंगा।

(दारा हैरान-सा मलिक जीवन के चेहरे की ओर देखता है)

चूंकि जयसिंह और बहादुर खान इस तरफ बढ़ते आ रहे हैं, मुझे और ज्यादा कुमुक का इंतजाम करना होगा। मैं दो दिन बाद आपसे आ मिलूंगा।

दाराः जैसा मुनासिब समझो, मलिक जीवन!

मलिक जीवनः मेरा भाई आपके साथ रहेगा।

(भाई एक कदम आगे बढ़ आता है)

एक हरावल दस्ता आपके आगे-आगे जाएगा, दूसरा, हिफाजती दस्ता, आपके पीछे-पीछे छिपकर जाएगा। मैं अपने दस्ते के साथ कुछ दूरी पर रहूंगा। अगर जयसिंह और बहादुर खान को आपकी टोह मिल गई तो मैं रास्ते में ही उन्हें रोकने की कोशिश करूंगा।

दाराः *(भावोद्रेक में मलिक जीवन को बांहों में भर लेता है)* मेरा नसीब अच्छा था जो मुझे तुम मिल गए, मलिक जीवन! तुम जैसे रफीक हैं तो जिंदगी की कदरो-कीमतों पर एतमाद बना रहेगा।

मलिक जीवनः हमारे पास वक्त बहुत कम है। आप जल्दी यहां से निकल जाएं। मैं दो दिन बाद ही आपसे आ मिलूंगा।

(अपने भाई से) तुम अपने दस्ते के साथ इनके साथ रहोगे। इनके सामान का बंदोबस्त मैंने कर दिया है। दो हाथियों पर जेवरात और नकदी के बक्से और दीगर सामान लादकर बाऐतबार मुलाजिमों के साथ रवाना कर दिया है। अब मैं चलूंगा। मुझे जल्दी से जल्दी अपने मुकाम पर पहुंच जाना चाहिए। ... खुदा हाफिज शाहजादा। आप बेफिक्र होकर जाएं।

दाराः खुदा हाफिज मलिक जीवन। खुदा तुम्हें सलामत रखे।

(दारा देर तक उस ओर देखता रहता है जिस ओर मलिक जीवन गया है।)

(अंदर से सिपह की आवाज आती है)

सिपहः मां! मां! तुम्हें क्या हो गया है?

(भागता हुआ बाहर आता है।)

अब्बाजान, मां को कुछ हो गया है!

दाराः या अल्लाह! *(तेजी से अंदर जाता है।)*

(अंतराल)

नादिरा, आंखें खोलो! नादिरा!

सिपहः *(चीखती-सी आवाज में)* मां!!

[जिस समय दारा और सिपह अंदर जाते हैं, उस समय मंच पर मलिक जीवन का भाई और एक मुलाजिम खड़े रहते हैं।]

(फेड आउट)

(फेड इन)

(वही दृश्य। अंदर से दारा की आवाज आती है।)

दाराः *(स्वतः)* किस वीराने में तुमने दम तोड़ा है, नादिरा! मैं तुम्हारे लिए सही दवा तक नहीं जुटा पाया! कभी तुमने मेरा दामन पकड़ा था, पर मैंने तुम्हें झटककर अलग कर दिया! मैं तुम्हारे काबिल नहीं था, नादिरा! ... या रब मुझे ताकत बख्श! परवरदिगार मुझे हौसला दे! मुझे हिम्मत दे! मुझे रास्ता सुझाओ, मेरे मालिक!

बलमसि बलं मयि देहि

वीर्यमसि वीर्यम् मयि देहि

(अंतराल)

(दारा का प्रवेश। उसके साथ उसके दो खिदमतगार हैं।)

दाराः तुम नादिरा बेगम का ताबूत लेकर सीधे लाहौर जाओगे और वहां शाह मीर की दरगाह में नादिरा बेगम को दफनाओगे।

खिदमतगारः जो हुक्म।

दाराः *(स्वतः)* किस्मत ने चाहा तो मैं किसी दिन अपनी अकीदत का चिराग तुम्हारे मजार पर जलाऊंगा, नादिरा! *(आंसू पोंछता, खिदमतगार से)* अब तुम जाओ।

(खिदमतगारों का प्रस्थान)

(इस बीच स्टेज पर, दारा के पीछे, मलिक जीवन के हथियारबंद सिपाही आकर तैनात हो जाते हैं)

मलिक जीवन का भाईः दारा शिकोह, अपनी तलवार हमारे हवाले कर दो। तुम्हें गिरफ्तार किया जाता है।

(एक हथियारबंद सिपाही आगे बढ़कर सिपह को पकड़ लेता है और उसके हाथ बांध देता है)

दाराः क्या बक रहे हो? अभी-अभी मलिक जीवन ....

मलिक जीवन का भाईः मलिक जीवन के हुक्म पर ही तुम्हें गिरफ्तार किया जाता है।

दाराः क्या? दो दिन में तो वह अपने मुहाफिजी दस्ते के साथ कंधार के रास्ते में मिलने वाला है।

मलिक जीवन का भाईः *(हंसकर)* अब वह अपने मुहाफिजी दस्ते के साथ तुम्हें दिल्ली ले जाएंगे।

दाराः *(दारा के हाथ से तलवार छूटकर गिर जाती है)*

मलिक जीवन भी एक दिन वही कुछ करेगा जो औरों ने किया! .. .. अच्छा हुआ नादिरा! तुम चली गईं। तुम्हें अपने खाविंद को बेड़ियों में तो नहीं देखना पड़ा। .... या खुदा, मुझे मेरे किन गुनाहों की सजा मिल रही है?

(चुपचाप खड़ा रहता है)

(दारा का एक मुलाजिम भागता हुआ अंदर आता है। दारा को बेड़ियों में देखकर ठिठक जाता है।)

क्यों? क्या बात है?

मुलाजिमः आपका सारा सामान लूट लिया गया है, मालिक! हमारे अपने ही मुलाजिमों ने लूट लिया है।

दाराः *(मुस्कराकर)* मेरे पास रह ही क्या गया था जो लूट लिया गया है!

(स्टेज पर अंधेरा छा जाता है)

(पर्दा)

❑

अनुवाद

अंग्रेजी में हिंदी कविता

हिंदी कविता के अनुवाद के उदाहरण उन्नीसवीं शताब्दी से ही मिलने प्रारंभ हो जाते हैं। ईस्ट इंडिया कंपनी के मेजर ब्रूटन ने भारतीय सैनिकों से सूक्तियों के रूप में हिंदी कविता के अंश सुने और इन्हें संकलित व अनूदित किया। हिंदी कविता के अनुवादों की परंपरा पर **हरदयाल**

सदियों की दासता ने हमें इतना हीनताग्रस्त बना दिया है कि अपनी हर चीज हमें निकृष्ट दिखाई देती है और हर विदेशी चीज उत्कृष्ट। हमारी सभ्यता, हमारी संस्कृति, हमारा साहित्य, हमारा संगीत, हमारी जलवायु, हमारा खानपान, हमारी वेषभूषा, हमारा रहन-सहन, हमारी भाषाएं, हमारी शिक्षा, हमारा रूप-रंग, यहां तक कि हम स्वयं भी विदेशी वस्तुओं और व्यक्तियों—विशेषतः यूरोपीय और अमरीकी—की तुलना में कहीं नहीं ठहरते हैं। ऐसी स्थिति में यदि यह बताया जाए कि हिंदी कविता का अंग्रेजी भाषा में प्रभूत मात्रा में अनुवाद हुआ है तो बहुतों को विश्वास नहीं होगा। किसी को विश्वास हो या न हो लेकिन यह है सच।

जहां तक हमारी जानकारी है, हिंदी कविता के पहले-पहले अनुवाद के उदाहरण उन्नीसवीं शताब्दी से ही हमें मिलने प्रारंभ हो जाते हैं। ईस्ट इंडिया कंपनी के सैनिक अफसर मेजर ब्रूटन जब सिंधिया की पराजय के बाद मुरार छावनी में नियुक्त हुए तब उन्होंने अपने भारतीय सैनिकों से सूक्तियों के रूप में हिंदी कविता के अंश सुने। इन अंशों से वह इतना प्रभावित हुए कि उन्होंने अच्छी तरह से हिंदी सीखी और हिंदी कविता का संग्रह करके उसको अंग्रेजी में अनूदित करना प्रारंभ किया। अपने द्वारा किए गए हिंदी कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद का एक संग्रह 1814 ई. में लंदन से *सलैक्शंस फ्राम द पापुलर पोयट्री आफ हिंदूज़* के नाम से मेजर ब्रूटन ने प्रकाशित किया। इस संग्रह में सूरदास, चंदसखी आदि के पदों, तुलसीदास के *रामचरितमानस* के अंशों, केशव, भूषण, मतिराम, देव आदि के कवित्त-सवैयों; रहीम, बिहारी, वृंद, कबीर, तुलसी आदि के दोहों; गिरधर की कुंडलियों और नरहरि के छप्पयों आदि के अंग्रेजी अनुवाद संग्रहीत हैं।

मेजर ब्रूटन ने अंग्रेजी अनुवादों में न केवल हिंदी कविता की अपनी संवेदनशील समझ का परिचय दिया है बल्कि अपने कवि हृदय और काव्यकौशल का भी परिचय दिया है—इस बात को उनके द्वारा किए गए बिहारी के दो दोहों के निम्नांकित अंग्रेजी अनुवाद के साक्ष्य के आधार पर कोई भी सहृदय स्वीकार करेगा :

अति अगाध अति ऊथरौ, नदी कूप सर बाय।
सो ताको सागर जहां, जाकी प्यास बुझाय।।

Deep or shallow let it be,
River, streamlet, lake or pool,
That to him is still a sea,
Who there his parching thirst can cool.

हा हा बदन उघारि दृग, सफल करैं सब कोय।
रोज सरोजन को परै, हंसी ससी की होय।।

Disclose thy lovely face, sweet maid!
And glad the eyes of all around;
No, for lily's bloom will fade,
And taunts the vanquished moon confound.

सन 1784 में एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल की स्थापना हुई तो कर्नल टॉड ने उसका ध्यान *पृथ्वीराज रासो* की ओर आकर्षित किया। उन्होंने अपनी पुस्तक *एनल्स एंड एंटीक्विटीज आफ राजस्थान* के लिए बहुत-सी सामग्री *पृथ्वीराज रासो* से ही ली थी। उन्होंने *पृथ्वीराज रासो* का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रारंभ किया था, लेकिन वह उसे आगे नहीं बढ़ा सके। ब्राउन को *पृथ्वीराज रासो* की दो पांडुलिपियां—एक आगरा कालेज से और दूसरी काशी नरेश से—मिलीं। इनके आधार पर *पृथ्वीराज रासो* को संपादित करके प्रकाशित कराने और उसका अंग्रेजी अनुवाद करने का दायित्व बीम्स को सौंपा। बीम्स के संपादन में *पृथ्वीराज रासो* का प्रकाशन आरंभ हुआ और उन्होंने उसके 'पदमावती समय' का अंग्रेजी में अनुवाद किया, जो एशियाटिक सोयायटी आफ बंगाल के जर्नल में 1869 में *ट्रांसलेशंस फ्रॉम चंद* के नाम से प्रकाशित हुआ। अनुवाद को लेकर ब्राउन और बीम्स में विवाद छिड़ गया, जिसके कारण न केवल *पृथ्वीराज रासो* के अंग्रेजी अनुवाद का कार्य बीच में रुक गया बल्कि *पृथ्वीराज रासो* के मूल का प्रकाशन भी बंद हो गया। तभी *पृथ्वीराज रासो* की प्रामाणिकता को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ, जिसके कारण बहुत बाद में उसे नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने प्रकाशित किया।

उन्नीसवीं शताब्दी में हिंदी कविता के अंग्रेजी अनुवादों का जो यह सिलसिला शुरू हुआ, वह आगे चलकर बहुत तेज हो गया। बीसवीं शताब्दी में यह बहुत अधिक गतिशील हुआ। आज स्थिति यह है कि आदिकाल से लेकर आधुनिक काल के सभी प्रमुख और महत्वपूर्ण कवियों के संपूर्ण अथवा आंशिक अंग्रेजी अनुवाद सुलभ हैं। आदिकालीन कवियों में चंदवरदाई के *पृथ्वीराज रासो* के अतिरिक्त विद्यापति के पदों के अनुवाद अंग्रेजी में हुए हैं। आनंद के. कुमारस्वामी ने विद्यापति के पदों का अनुवाद *कृष्ण : विद्यापति* शीर्षक से किया है। आनंद के. कुमारस्वामी और अरुण सेन ने *विद्यापति पदावली* का भी अनुवाद अंग्रेजी में प्रस्तुत किया है। इस अनुवाद में विद्यापति के मूल पद देवनागरी और बंगला दोनों लिपियों में दिए गए हैं। यह संभवतः इसलिए किया गया है कि विद्यापति को मैथिली, हिंदी और बंगला तीनों

भाषाओं के लोग अपनी-अपनी ओर खींचते हैं।

जहां तक भक्तिकाल का प्रश्न है कबीर, तुलसी और मीराबाई की संपूर्ण रचनाएं अंग्रेजी अनुवादों के रूप में विद्यमान हैं। भक्तिकाल के ये तीनों कवि अंग्रेजी अनुवादकों के बीच अत्यंत लोकप्रिय रहे हैं और आज भी हैं। अहमद शाह ने *बीजक* शीर्षक से कबीर की संपूर्ण रचनाओं का अंग्रेजी में अनुवाद किया है। *विज़न आफ कबीर* के नाम से सहदेव कुमार ने कबीर के दो सौ दोहों का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया है। इन दोनों अनुवादकों से पहले रवींद्रनाथ ठाकुर ने कबीर के सौ पदों को *वन हंड्रेड पोयम्स आफ कबीर* के रूप में अंग्रेजी पाठकों के समक्ष रखा था। रवींद्रनाथ का यह अनुवाद अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। रवींद्रनाथ ठाकुर का अनुवाद क्षितिमोहन सेन के द्वारा बंगला अनुवाद के साथ प्रकाशित कबीर के पदों के पाठ पर आधारित था। जिन सौ पदों का रवींद्रनाथ ठाकुर ने अनुवाद किया था वे हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी *कबीर* शीर्षक पुस्तक के 'परिशिष्ट-2' में संकलित किए हैं। क्षितिमोहन सेन के द्वारा प्रकाशित कबीर के पदों में से 116 पदों का अजितकुमार चक्रवर्ती ने भी अंग्रेजी में अनुवाद किया था। लिंडा हेस और सुखदेव सिंह ने मिलकर *द बीजक आफ कबीर* के नाम से कबीर की रचनाओं का अनुवाद प्रस्तुत किया है। स्वामी राम और राबर्ट बी. रेगली ने *द मिस्टीकल पोयम्स आफ कबीर* को अंग्रेजी में प्रस्तुत किया है। गणनाथ दास ने कबीर के दोहों, पदों और सूक्तियों को तीन पुस्तकों के रूप में अंग्रेजी में रूपांतरित किया है। उनकी पुस्तकें हैं : *लव सांग्स आफ कबीर, सलैक्टेड कबीर दोहाज़* और *सेइंग्स आफ कबीर*। इनके अतिरिक्त कबीर की रचनाओं के और भी अनेक अनुवाद अंग्रेजी में हुए हैं।

एस.पी. बहादुर ने छह खंडों में पूरी तुलसी ग्रंथावली कंप्लीट *वर्क्स आफ तुलसीदास* अंग्रेजी में प्रस्तुत कर दी है। अंग्रेजी अनुवादकों के बीच में तुलसीदास की जो रचना सर्वाधिक लोकप्रिय रही है वह है *रामचरितमानस*। ए.जी. एटकिंस का *रामचरितमानस* का अंग्रेजी पद्यानुवाद तीन खंडों में 1,400 से अधिक पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है। इधर रामचंद्र प्रसाद के द्वारा संपादित-अनूदित *रामचरितमानस* भी अंग्रेजी में प्रकाशित हुआ है। *हनुमान चालीसा* भी अंग्रेजी अनुवादकों की प्रिय पुस्तक रही है। वी.एल. कपूर, आर. के. शर्मा इत्यादि एकाधिक अनुवादकों ने *हनुमान चालीसा* को अंग्रेजी में अनूदित किया है। मीराबाई के पदों ने भी अनुवादकों को आकर्षित किया है। ए.जे. एल्स्टन ने *द डिवोशनल पोयम्स आफ मीराबाई,* पी.के. सेठी ने *सलैक्टेड पोयम्स आफ मीरा,* बालदून धींगरा ने *सांग्स आफ मीरा* के नाम से मीरा के पदों का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया है। *गुरु ग्रंथ साहब* के अंग्रेजी अनुवाद में भी हिंदी के अनेक मध्यकालीन कवियों की रचनाएं अंग्रेजी में सुलभ हो गई हैं।

हिंदी के रीतिकालीन कवियों में से भी अनेक कवियों की रचनाओं के अंग्रेजी अनुवाद प्राप्य हैं। इन कवियों में केशवदास और घनआनंद की रचनाएं विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, क्योंकि ये कवि अपने मूल रूप में ही अत्यंत दुरूह हैं फिर इनका काव्य अभिधार्थ और लक्ष्यार्थ दोनों स्तरों पर बहुअर्थी है। ऐसे काव्य का अनुवाद आसान नहीं होता है, बल्कि हम यह भी कह सकते हैं कि लगभग असंभव होता है। फिर भी अनुवाद के बिना काम नहीं चल सकता। इसलिए यदि ऐसा अनुवाद मूल का आभास भी दे देता है तो भी उसे संतोषजनक माना जा सकता है। के.पी. बहादुर ने *रसिकप्रिया आफ केशवदास* और *सलैक्शंस फ्राम रामचंद्रिका आफ केशवदास* के रूप में केशव की रचनाओं को अंग्रेजी में प्रस्तुत कर सचमुच साहस का काम किया है। पी.के. बहादुर ने *लव पोयम्स आफ घनआनंद* के रूप में घनआनंद की चुनी हुई रचनाओं को अंग्रेजी में प्रस्तुत किया है। बिहारी के दोहों को अमरनाथ झा और डा. सत्यदेव चौधरी ने अंग्रेजी में रूपांतरित किया है।

प्राचीन कवियों की इन रचनाओं के अतिरिक्त हिंदी के लोक काव्य के अंग्रेजी अनुवाद के भी उदाहरण हमें मिलते हैं। चंद्रमणि सिंह के द्वारा भोजपुरी क्षेत्र के *मैरिज सांग्स* हिंदी लोक काव्य के अंग्रेजी अनुवाद का ही एक अच्छा उदाहरण है।

बहुत-सा आधुनिक हिंदी काव्य भी अंग्रेजी में अनूदित हुआ है। वेदप्रकाश बटुक ने *एन एडवांस रीडर इन हिंदी पोयट्री* के रूप में, दिविक रमेश और अर्स्ट अलबर्ट ने *एसैंबल* के रूप में, जान ओलीवर पैरी ने *वायसिस आफ इमरजेंसी* के रूप में, विष्णु खरे ने *डिसैक्शंस* और *द पीपुल एंड द सैल्फ* के रूप में अनेक आधुनिक हिंदी कवियों की कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद किए हैं। महेंद्र भटनागर की चुनी हुई कविताएं *आफ्टर द फॉर्टी पोयम्स* के नाम से, कैलाश वाजपेयी की *बियांड द सैल्फ* के नाम से, प्रणवकुमार वंद्योपाध्याय की *आई शैल फेस यू* के नाम से, मणि मधुकर की *द पोयट्री आफ मणि मधुकर* के नाम से, अज्ञेय की *नीलांबरी* एवं *साइंस एंड साइलेंस* के नाम से, गंगाप्रसाद विमल की *द टेलिस्मा* के नाम से, निराला की *ए सीज़न आफ अर्थ* के नाम से अंग्रेजी अनुवाद में विद्यमान हैं। अंग्रेजी में प्रकाशित होने वाली स्वदेशी, विदेशी पत्र-पत्रिकाओं में तो हिंदी कविताओं के अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित होते ही रहते हैं। और इनमें से अधिकांश पुस्तक रूप में कभी प्रकाशित नहीं होते। आधुनिक हिंदी कविता की जिस रचना ने अंग्रेजी अनुवादकों को सबसे अधिक आकर्षित किया है वह है *कामायनी*। जैकिशनदास सडानी, प्रणवकुमार वंद्योपाध्याय, बी.एल. साहनी, मनोहर वंद्योपाध्याय और हरीचंद बंसल के द्वारा किए गए *कामायनी* के पांच अंग्रेजी अनुवाद आज प्राप्त हैं। *कामायनी* के अंग्रेजी अनुवादों की यह इति नहीं है। जैसे *कामायनी* हिंदी के प्रायः सभी प्रमुख आलोचकों के लिए चुनौती बनी है और उन्होंने अपने-अपने ढंग से उसकी विवेचना और मूल्यांकन किया है, उसी प्रकार वह अंग्रेजी अनुवादकों के लिए भी चुनौती बनी है और बनी रहेगी, और वे उसे अंग्रेजी में रूपांतरित करते रहेंगे।

हिंदी कविता के अंग्रेजी अनुवादों संबंधी ये सूचनाएं पूर्ण नहीं हैं। ये तो वे सूचनाएं हैं जो अनायास मिल गई हैं। इस दिशा में साहित्य अकादमी, हिंदी अकादमी या ऐसी ही कोई और संस्था काम करे अथवा कोई आस्थावान एवं कर्मठ शोधकर्ता प्रयत्नशील हो तो पूरी और अद्यतन सूची प्रस्तुत की जा सकती है। लेकिन यहां जितनी सूचनाएं प्रस्तुत की गई हैं, उनसे इतना तो सिद्ध हो ही जाता है कि अंग्रेजी जानने वाले भारतीयों और विदेशियों की हिंदी कविता में रुचि है, अंग्रेजी अनुवादों में उसकी मांग है।

हिंदी कविता के अंग्रेजी अनुवाद भारतीयों ने भी किए हैं और विदेशियों ने भी। यहां तक कि कुछ हिंदी कवियों ने अंग्रेजी में अपनी कविताओं के अनुवाद स्वयं किए हैं। दरअसल उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से लेकर अब तक हिंदी कविता के अंग्रेजी अनुवादों के पीछे अनेकों प्रेरणाएं रही हैं। प्रारंभ में ये प्रेरणाएं शुद्ध काव्य प्रेम, धर्म एवं प्राच्य विद्या के रूप में सामने आईं। बीसवीं शताब्दी में आकर ये प्रेरणाएं बदलने लगीं। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर विदेशियों के द्वारा किसी देश विशेष के साहित्य का अनुवाद अथवा अपने साहित्य का किसी देश विशेष की भाषा/भाषाओं में अनुवाद कूटनीतिक दृष्टि से जुड़ गया। आदमी सब जगह झूठ बोल सकता है लेकिन साहित्य सृजन में नहीं। इसलिए किसी देश के नागरिकों के दुर्बल और सबल पक्षों को जानना हो तो उसका सर्वाधिक विश्वसनीय साधन साहित्य होता है। साहित्य के माध्यम से देश विशेष के नागरिकों की दुर्बलताओं को जानकर उनका लाभ उठाने और उन्हें प्रभावित करने में साहित्य का अनुवाद एक कारगर अस्त्र सिद्ध हो सकता है, इसे संपन्न देशों की सरकारों ने अच्छी तरह जान लिया है। भारतीयों को विदेशी वस्तुओं और विचारों से बहुत आसानी से सम्मोहित

किया जा सकता है यह जानने के लिए समकालीन भारतीय साहित्य पर सरसरी दृष्टि डाल लेना पर्याप्त होगा।

भारतीयों के द्वारा किए गए या करवाए गए हिंदी तथा दूसरी भारतीय भाषाओं की कविता के अंग्रेजी अनुवादों के पीछे अंतर्राष्ट्रीय होने की प्रेरणा प्रमुख रही है। अधिकांश भारतीय इस मोह से ग्रस्त हैं कि यदि उनकी कोई रचना अंग्रेजी में प्रकाशित हो जाएगी तो राष्ट्रीय ही नहीं, अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित हो जाएगी। जब कोई हिंदी कवि अपनी कविताएं स्वयं अंग्रेजी में अनूदित करके अथवा किसी देशी-विदेशी अनुवादक को पढ़ाकर अंग्रेजी में अनुवाद करवाकर और स्वयं प्रकाशन-व्यय वहन करके छपवाता है तब उसका अंतर्राष्ट्रीय होने का मोह ही उसे प्रेरित करता है। इससे अधिक उदात्त स्तर की प्रेरणा यह है कि जब हम अपनी श्रेष्ठ साहित्यिक रचनाओं को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर उपेक्षित पाते हैं तो हमें पीड़ा महसूस होती है। हमारे मन में प्रश्न उठता है कि क्या रवींद्रनाथ ठाकुर के बाद तमाम भारतीय भाषाओं में एक भी ऐसा साहित्यकार नहीं हुआ जो 'नोबल पुरस्कार' के योग्य हो? भारतीय साहित्य की उपेक्षा क्यों? हमें लगता है कि इसका कारण विदेशियों का हिंदी तथा दूसरी भारतीय भाषाओं को न जानना है और इस समस्या का समाधान हमें अपने साहित्य को अंग्रेजी में अनूदित करने-करवाने के रूप में सूझता है। नगेंद्र का यह कहना इसी सोच का प्रमाण है कि "चौथे दशक के अंतिम वर्षों में जब से मैंने साहित्य के क्षेत्र में कार्य करना आरंभ किया तभी से मेरी यह हार्दिक इच्छा, बल्कि लगभग महात्वाकांक्षा रही है कि मैं हिंदी साहित्य से संबंधित आलोचनात्मक अध्ययन अंग्रेजी में प्रस्तुत करूं। मैंने हमेशा अनुभव किया है कि बाहर की दुनिया के सामने अपने साहित्य भंडार को अंग्रेजी तथा दूसरी अंतर्राष्ट्रीय भाषाओं के माध्यम से प्रस्तुत करने का कोई नियमित प्रयत्न नहीं किया गया है। फलतः हमारी प्राचीन और नवीन सर्वोत्तम क्लासिक कृतियां समुचित स्वीकृति नहीं पा सकी हैं। अब समय आ गया है जबकि विश्व के विकसित देशों के साथ हमारे सांस्कृतिक और साहित्यिक संबंध बढ़ रहे हैं हमने एक नियमित नियोजित कार्यक्रम इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए हाथ में लिया है।"

यह उद्देश्य और प्रेरणा निःसंदेह स्पृहणीय है लेकिन सरकार और सांस्कृतिक साहित्यिक संस्थानों के सहयोग के बिना इसकी सफलता पूर्णतया संदिग्ध है। नगेंद्र अपने कार्यक्रम को एक सीमा तक ही पूरा कर सके और वह बीच में ही छूट गया। इधर यह भी अनुभव किया जाने लगा है कि यदि अंग्रेजी हमारे लिए विश्व पर खुलने वाली एक खिड़की है तो उसमें से बाहर की चीजें ही हमारे यहां क्यों आएं, हमारी चीजें बाहर क्यों न जाएं! इसी बात को ध्यान में रखकर दिल्ली विश्वविद्यालय के अंग्रेजी विभाग के प्रोफेसर विनोद सेना का कहना है कि हमारी विद्वत्ता पाश्चात्य साहित्य की मूल स्रोत सामग्री तक अपनी पहुंच न होने और उसके सांस्कृतिक संदर्भों से कटे रहने के कारण उधारू वृत्ति वाली बन गई है। यदि अंग्रेजी ने भारत के लिए संसार पर खुलने वाली खिड़की का काम किया है तो हमारे अंग्रेजी विभागों के विद्वान उसे भारत की संपन्न साहित्यिक परंपरा की विश्व पर खुलने खिड़की क्यों नहीं बना सके? वे भारतीय भाषाओं की मानक साहित्यिक कृतियों के अंग्रेजी अनुवाद, आलोचनात्मक परिचय और टिप्पणियों सहित, प्रस्तुत करके विश्व भर के साहित्य के विद्यार्थियों की अमूल्य सेवा करेंगे। ऐसा करके वे अपनी प्रसुप्त और अप्रयुक्त सृजनात्मक ऊर्जा को भी जागृत और सक्रिय कर सकेंगे।" (*हिंदुस्तान टाइम्स*, नई दिल्ली, 23 दिसंबर 1990) हिंदी कविता के अंग्रेजी अनुवादों के पीछे एक प्रेरणा यह भी है लेकिन इस प्रेरणा की स्वाधीनता पूर्व के दिनों में संभावना बहुत कम थी। आज भी अंग्रेजी के विनोद सेना जैसे प्रोफेसर अपवादस्वरूप ही हैं। ज्यादातर तो 'हमें हिंदी'/दूसरी भारतीय भाषाएं नहीं आतीं' यही कहने में गर्व का अनुभव करते हैं।

अंग्रेजी में हिंदी कविता के जो प्रभूत परिणाम में अनुवाद आए हैं वे अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के हैं। मात्र शब्दानुवाद प्रायः अच्छे नहीं बन पड़े हैं। अच्छे अनुवाद वही बन पड़े हैं जो भावानुवाद/छायानुवाद हैं और पुनस्सृजन हैं। कबीर के एक ही दोहे के नीचे उद्धृत दो अंग्रेजी अनुवादों में से जहां पहला अत्यंत साधारण, बल्कि खराब अनुवाद का उदाहरण है तो दूसरा श्रेष्ठ अनुवाद का :

राम नाम की लूट है, लूट सके तो लूट।
तू पीछे पछिताइगा, सांस जाएगी छूट।।

अनुवाद : 1.

If you can plunder, plunder,
Let the name of Ram be your booty!
Otherwise later you'll repent,
When you breathe your last!

- चार्ल्ट वडविले

अनुवाद : 2.

Rejoice, O Kabir! / In this great feast
Of Love! / Once death
Knocks at your door / This golden moment
Will be gone / Forever!

- सहदेव कुमार

अच्छा अनुवाद इस बात पर भी निर्भर करता है कि अनुवादक अनुवाद अंतःप्रेरणा से कर रहा है अथवा किसी बाह्य प्रेरणा से। क्या उसने मूल कवि की उस मनोदशा को स्वायत्त कर लिया है जिसमें से गुजरकर उसने कविता लिखी है? क्या अनुवादक ने मूल कविता की सारी अर्थ छवियों को पकड़ लिया है? यदि ऐसा नहीं है तो अनुवादक चाहे स्वयं कवि हो अथवा अंग्रेजी भाषा और साहित्य का विद्वान, उसका अनुवाद त्रुटिपूर्ण होगा। जैसे विष्णु खरे कृत शमशेर की 'हरा चेक' कविता का अनुवाद। नमूने के लिए मूल कविता का एक अंश और उसका अनुवाद प्रस्तुत है :

उसने मुझे एक चेक दिया, इस तरह कि मैं
भुना न सकूं; बस;
ताकि मैं बार-बार उसकी पूंजी की पीली
बेजान हड्डियों को खड़खड़ाकर पूछूं :
क्या आप बदल न सकेंगे?
(हड्डियों को नहीं, ओफ—इस हरे चेक को!)

अनुवाद :

He gave me a green cheque so that I may not
Cash it
So that I should shake the yellow lifeless bones
Of his bounty and ask :
Would you not change it?
(Oh, not the bones, but this green cheque!)

पूछा जा सकता है कि क्या 'इस तरह कि' की अंग्रेजी 'सो दैट' होती है। 'बस' का अनुवाद करना विष्णु खरे ने क्यों छोड़ दिया? क्या वह कविता

पृष्ठ 40 पर जारी

लघु कथा

महाशय 'ब' की कहानियां

बर्तोल्त ब्रेख्त

सच बोलने का खतरा

अमरीकी फिल्म नगरी हालीवुड में एक बार संगीतकार हंस आइसलर महाशय 'ब' से मिले और उनके सामने यह रहस्योद्घाटन किया कि एक प्रसिद्ध फिल्म निर्देशक ने काफी तैश में आकर उनसे (आइसलर से) यह बात जाहिर की है कि अब वह कभी भविष्य में महाशय 'ब' के साथ काम नहीं करना चाहता।

महाशय 'ब' ने चकित होकर कहा, "मैं समझा नहीं, वह मेरा साथी था और मैंने महज सच्चाई भर उससे व्यक्त की थी।"

संगीतकार हंस आइसलर ने सिर हिलाते हुए कहा, "मगर कितनी जोर से!"

आत्मज्ञानी

युवा आलोचक एंसर्ट शाउमाखर ने महाशय 'ब' की प्रारंभिक नाट्य रचनाओं पर छः सौ पृष्ठों का एक शोध प्रबंध लिखा। इस पुस्तक से कुछ उद्धरण पेश करते हुए एक दूसरे आलोचक बीलांज हेर्ल्जफेल्डे ने महाशय 'ब' के सामने उस साथी की आलोचना की। लेकिन महाशय 'ब' से यह सुनकर कि उन्होंने वह शोधप्रबंध पढ़ा ही नहीं है, वह ठगा-सा रह गया और जिज्ञासावश उनसे इसका कारण पूछा बैठा। महाशय 'ब' ने प्रकृतिस्थ होकर जवाब दिया, "उसने वह किताब मेरे लिए हर्गिज नहीं लिखी है।"

पहली मदद

महाशय 'ब' से अपनी भूमिकाओं के सिलसिले में कई अभिनेता मिला करते थे। एक युवा अभिनेत्री ने अपने लिए गोयथे के नाटक *फाउस्ट* से जेल दृश्य की एक भूमिका पसंद की। अभिनय के दौरान पूरा दमखम लगाकर उसने इतना पसीना और आंसू बहाए कि वह बेहोश होकर गिर पड़ी। यह देखते ही महाशय 'ब' ने उसे संभाला – सहलाया और उसकी कुशल चाहते हुए कहा, "इसे एक गिलास पानी का दो।"

जवाबी तार

महाशय 'ब' ने अपटान एस. द्वारा लिखित उपन्यास *शि. शहर का मैदाने जंग* और इसके ठीक बाद जर्मन लेखक फ्रीदरिख शिलर की रचना 'ओ शहर की जवान महिला की त्रासदी' पढ़ी। ये दोनों रचनाएं उन्हें इतनी अधिक पसंद आईं कि इनके आधार पर उन्होंने एक नया नाटक रच डाला। लिखने के बाद उन्होंने गुस्ताफ जी. से यह आग्रह किया कि वह इस नाटक का मंचन करें। गुस्ताफ जी. ने एक तार द्वारा जवाब भेजा, 'भगवान के लिए माफ करना।'

द्वितीय विश्वयुद्ध खत्म होने के बाद गुस्ताफ जी. ने महाशय 'ब' के उसी नाटक के मंचन के साथ, जिसे कभी वह अस्वीकार कर चुके थे, पुनः एक थियेटर कंपनी की शुरूआत करनी चाही। इस बार महाशय 'ब' ने तार द्वारा उन्हें जवाब भेजा, 'भगवान के लिए माफ करना।'

शोषण

राजधानी की दिक्कतों से तंग आकर महाशय 'ब' अस्पताल चले आए। यहां उन्हें सकून मिला। वह डाक्टरों, नर्सों और मरीजों के साथ बहस करते, आगंतुकों से मिलते, आम लोगों में दिलचस्पी लेते, नाटकों की रूपरेखा बनाते, दृश्य लिखते, किताबें जुटाते, प्रकाशकों के साथ विचार-विमर्श करते, अभिनेताओं से गुफ्तगू करते और दोस्तों से सलाह-मशविरा लेते—यानी देखते ही देखते उन्होंने अस्पताल के बड़े हाल को एक अच्छे खासे वर्कशाप में बदल डाला।

उनके मित्र आर्नोल्ड ब्रोनेन काफी चिंतित होकर यह खैर मना रहे थे कि महाशय 'ब' जल्द अस्पताल से छुट्टी लेकर घर लौटें और स्वास्थ्य लाभ करें।

"ऐसी अध्ययनशाला और कहीं नहीं है।" महाशय 'ब' ने उत्कंठित होकर कहा, "जैसा कि एक अस्पताल का हाल। बेशक तुम्हें भी यहां आना चाहिए। दुआ करो कि जल्दी ही कोई रोग तुम पर भी आ लगे।"

अनुवाद : **मोहन थपलियाल**

कहानी

एक ईमानदार शहर

● कोस्तोलान्य दैजो

हंगारी से अनुवाद : वंदना शर्मा

रेखांकन : राजेंद्र गायकवाड़

इस शहर में कदम रखते ही जो मुझे सबसे पहले खटका वह यह कि यहां के लोग आते-जाते आमतौर पर न तो एक-दूसरे से दुआ-सलाम कर रहे थे न हालचाल पूछ रहे थे।

"भाई, यहां सिर्फ वही एक-दूसरे का अभिवादन करते हैं जो उन्हें पसंद करते हैं और उनकी इज्जत करते हैं।" ये शब्द थे मेरे ड्राइवर के।

पटरी पर बैठे एक अंधे व्यक्ति ने काला चश्मा लगाया हुआ था और उसके सामने पड़ी तख्ती पर कुछ इस तरह लिखा था :

मैं अंधा नहीं हूं
यह काला चश्मा तो सिर्फ मैं
शौक से गर्मियों में पहनता हूं।

अब भला ये शब्द लिखने की क्या तुक थी?

कुछ आगे चलने पर नई चमचमाती हुई दुकानों की एक लंबी कतार दिखाई दी। उनके चमचमाते शीशे के शोरूम में कई तख्तियां लटकी थीं। कपड़ों की दुकानों पर लटकी तख्तियों पर लिखा था :

महंगे और रद्दी माल से तैयार हुए वस्त्र,
बचकर रहिएगा, यहां लोग धोखा देते हैं।

जूते की दुकान पर :

हमसे खरीदे गए जूते, आपके पैर बिगाड़ देंगे। हमारे ज्यादातर खरीददारों को अपने पैरों की चीर-फाड़ करवानी पड़ी है।

भोजनालय में :

न खाने-पीने योग्य भोजन व पेय!
घर के खाने से बदतर।

हलवाई की दुकान पर :

अगर ताजे पकवान पसंद हैं तो खुद
पकाकर खाएं
यहां आप दो दिन के बासी पकवान ही पाएंगे।

"यह सब मजाक है, है न?" मैंने अपने ड्राइवर से पूछा।

"मजाक का तो सवाल ही नहीं उठता। यह बिल्कुल सच है। यहां कोई भी सच को छुपाना नहीं चाहता!"

कोस्तोलान्य दैजो (1885-1936)

विश्वविद्यालय की शिक्षा अधूरी छोड़कर पत्रकारिता में पदार्पण। हंगरी के 'पेन' सोसाइटी के पहले चेयरमैन। रवींद्रनाथ ठाकुर की रचनाओं सहित कई विदेशी लेखकों की रचनाओं का हंगारी में अनुवाद। प्रसिद्ध कृतियां : 'नीरो' 'अन्ना एदैश और लावा' (उपन्यास), 'कॉरनेल एश्ती के गीत', (कविताएं) 'एक पुरानी फाइल', 'स्नान' और 'ऐपैंडीसाइटिस' (कहानियां) आदि।

"तब तो ये लोग पागल हैं।" मैंने कहा, "या फिर संत महात्मा या आत्महत्या करने पर उतारू। क्या इनका लक्ष्य बर्बादी है?"

"ये बर्बादी के रास्ते पर नहीं चल रहे। इनका सच बोलने से नुकसान नहीं होगा। आपके यहां सब जानते हैं कि दूसरा झूठ बोल रहा है। अपने माल के बारे में ज्यादा बढ़ा-चढ़ाकर बता रहा है। आपको हमेशा उसके कथन में से कभी कम और कभी ज्यादा निकालना पड़ता है। जबकि यहां ठीक उल्टा है। हर कोई यहां अपने आप को और दूसरे को जानता है कि वह ईमानदार है, शरीफ और सभ्य है जो कि अपने श्रेय को बढ़ाने की बजाय घटाकर बताता है। यहां सब जानते हैं कि दुकानों द्वारा दिए गए विज्ञापनों या किसी के स्वयं के बारे में कही गई बातों में कुछ घटाने की बजाय बढ़ाने की आवश्यकता होती है।"

किताबों की एक दुकान के शोरूम में एक नई छपी किताब के रंगीन मुख पृष्ठ पर छपा था :

पढ़ने के योग्य नहीं, रद्दी।

एक वृद्ध लेखक की आखिरी रचना जिसकी एक भी कृति आज तक नहीं बिक पाई।

भ्रष्ट और अश्लील साहित्य।

"अविश्वसनीय!" मैंने आश्चर्य से कहा, "और लोग ऐसी किताबें खरीदते हैं?"

"क्यों, क्या आप लोगों में ऐसी किताबें नहीं खरीदी जातीं?"

"खरीदते तो हैं पर इस तरह के विज्ञापनों को पढ़कर नहीं।"

"मैं फिर कहता हूं, यहां सभी ईमानदार हैं। अपने आप से अच्छी तरह परिचित हैं। अगर कोई स्वयं को जानता है कि उसे गंदी और उबाऊ किताबें पसंद हैं तो वह आराम से इन किताबों

को खरीदता है।"

कुछ आगे चलकर हम एक कॉफी हाउस के अदर गए, जिसने कि कुछ इस तरह का विज्ञापन दिया था :

बिल चुका पाना, आपके बूते से बाहर बैरे—असभ्य।

कॉफी हाउस में घुसते हुए मैंने अभिवादन किया।

"गुड डे!" (शुभ दिन)

"क्यों झूठ बोलते हैं?" कड़क आवाज में बैरे ने कहा, "आप यहां मुझे गुड डे कहने नहीं आए, गुड कॉफी पीने आए हैं जो कि यहां आपको नहीं मिल सकेगी। यहां सिर्फ नकली कॉफी मिलती है।"

मेज पर पड़े अखबार को मैंने उठाया तो पाया कि उसका नाम था 'झूठ'। शीर्षक के नीचे बड़े-बड़े अक्षर पाठकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे :

इस अखबार का हर शब्द बिका हुआ है। हमारा अखबार सरकार और विज्ञापनदाताओं पर निर्भर है। हमारे अपने विचार नहीं होते। हमारे पाठक व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से हमसे भयंकर घृणा करते हैं। हम इसी योग्य हैं। आप भी हमसे घृणा करें।

यह तो मुझे सचमुच पसंद आया पर अखबार में दिए विज्ञापनों को मैं नहीं समझ पाया।

जेल से भागे हुए खजांची के पद के लिए आवेदन।

एक अधीर नर्स का बच्चों की आया के लिए प्रार्थना-पत्र।

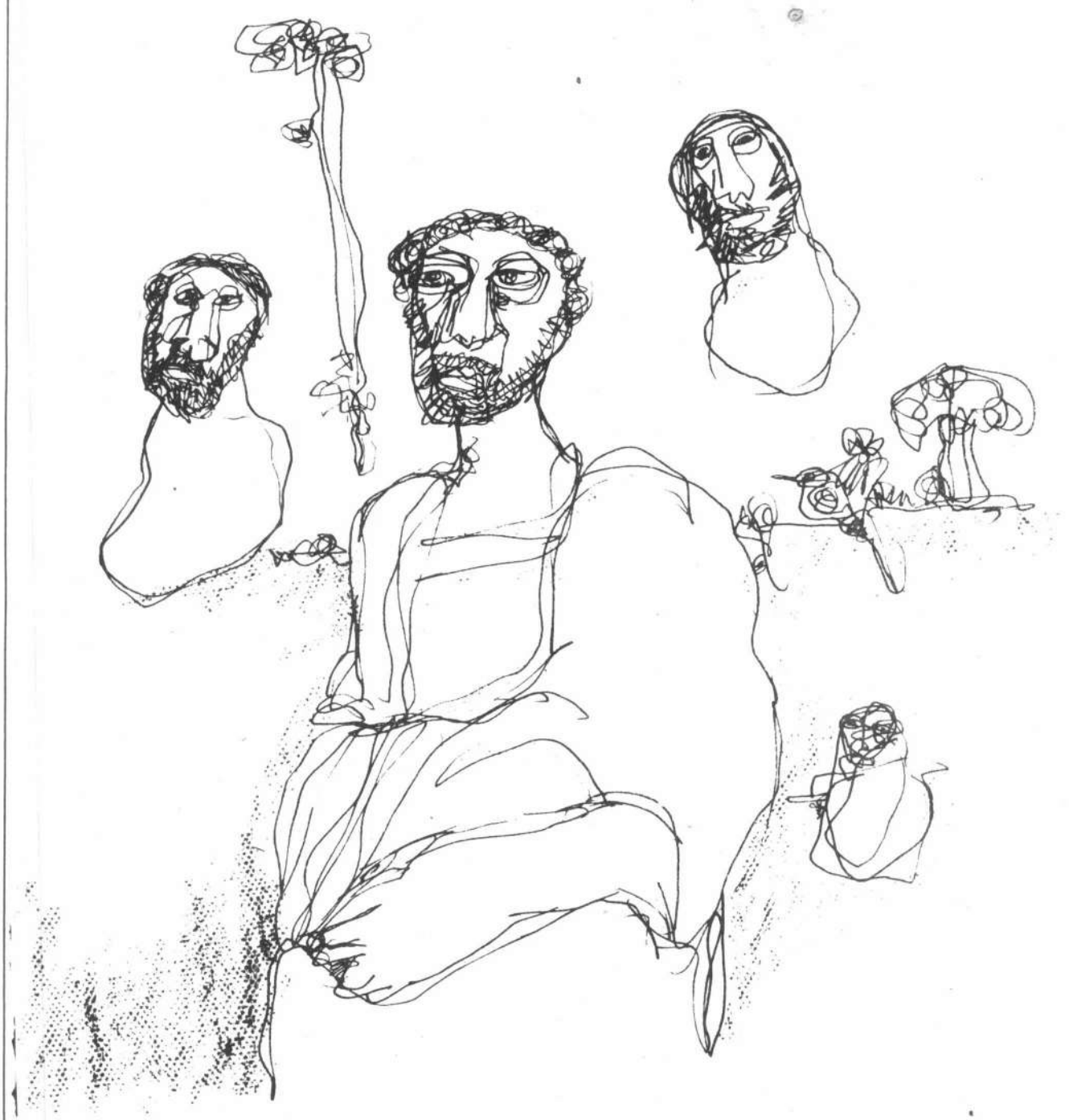

दूना नदी के उस पार वाली शैली में फ्रेंच बोलने वाले फ्रांसीसी भाषाविद, भाषा सीखने के इच्छुक विद्यार्थियों को आमंत्रित करते हैं।

"भला ऐसे लोगों को नौकरी कैसे मिलती होगी?" मैंने पूछा।

"यहां जिंदगी ऐसी ही है। और फिर सच के सिवा कोई और चारा भी तो नहीं।"

तब, मैं एक 'उबाऊ' शीर्षक वाली साहित्यिक पत्रिका पढ़ने लगता हूं।

"यह उबाऊ तो नहीं," मैंने कहा।

"क्योंकि शीर्षक पढ़ने के बाद आपने पत्रिका से कुछ भी अपेक्षा नहीं रखी। मैं पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूं कि अपने शहर में आप इसी पत्रिका को अरुचिकर पाते।"

जैसे ही हम कॉफी हाऊस से बाहर निकले, तो संसद भवन के सामने काफी भीड़ देखी। एक नेता भाषण दे रहे थे :

"मैं बौद्धिक कार्य या किसी भी पेशे के अयोग्य हूं। मैं संसार के किसी भी काम-धंधे के लायक नहीं हूं। न आप लोगों को जीवन का अर्थ ही बता सकता हूं न किसी लक्ष्य की ही ओर ले जा सकता हूं। और लक्ष्य क्या है? वह कोई रहस्य नहीं, वह यह है कि मैं जल्दी से जल्दी धनी बन जाऊं।"

अब तक शाम घिर चुकी थी। आकाश पर चांद और तारे निकल आए थे। अब भी रोशनी थी। एक बैंक की गगनचुंबी इमारत पर लगे बिजली चालित विज्ञापन बोर्ड पर, जो कि अंधेरे में साफ चमक रहा था, लिखा था :

हम चोरी करते हैं, धोखा देते हैं और लूटते हैं।

अब तक मैं बहुत थक चुका था और ठंड भी लग रही थी। हम देर रात को घर पहुंचे। मुझे ऐसा महसूस हो रहा था जैसे मुझे ज्वर हो गया है। मैं खांस रहा था और कई बार छींका भी। हमने डाक्टर को बुलवाया।

"डाक्टर साहब", मैंने कहा, "मुझे ऐसा लग रहा है जैसे मुझे ठंड लग गई हो। जुकाम भी है।"

"जुकाम!" डाक्टर ने डरे हुए लहजे में पीछे हटते हुए कहा, "क्या मुझे छूत लगाना चाहते हो? हो सकता है तुम्हें इंफ्लूएंजा हो! मैं बाल-बच्चेदार आदमी हूं, जनाब!"

"तो, क्या आप मेरी जांच भी नहीं करेंगे?"

"जांच करना बेकार है। जुकाम का कोई इलाज नहीं। वैसे ही जैसे कैंसर का। वैज्ञानिकों का कहना है कि अगर हम जुकाम का इलाज शुरू कर दें तो वह एक महीने खिंच सकता है। और अगर जुकाम का इलाज न करें तो कई बार दूसरे ही दिन ठीक हो जाता है।"

"और अगर मुझे निमोनिया हुआ, तो?"

"तब तो तुम्हारी मृत्यु निश्चित है। क्यों, क्या तुम कभी मरना नहीं चाहते?"

"वह बात नहीं, पर मेरे सिर में भी बहुत दर्द हो रहा है।"

"तुम्हारा सिरदर्द मेरे लिए कोई महत्व नहीं रखता। मेरे लिए यह जरूरी है कि मेरे सिर में दर्द नहीं है। और इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि रात देर से बुलाने पर मुझे दुगुनी फीस मिलेगी। अब देर न करो। जल्दी मेरी फीस पकड़ाओ। मैं जल्दी में हूं।"

डाक्टर की बात सच निकली। मैं दूसरे ही दिन स्वस्थ हो गया। सुबह जल्दी-जल्दी मैं नगरपालिका के अध्यक्ष के पास इस उद्देश्य से पहुंचा कि अपने आप को इस ईमानदार शहर का नागरिक बनवा पाऊं। पर नगरपालिका का अध्यक्ष इस बात से खुश नहीं हुआ। कारण बताते हुए बोला—"मैं आपके इस निर्णय पर प्रसन्न नहीं हूं। पहले तो इसलिए कि मैं नहीं जानता कि आप कौन हैं? क्या हैं? और दूसरा कारण यह कि मेरा काम इस ईमानदार शहर की जरूरतों को ध्यान में रखना है। तीसरा कारण यह कि मैं देख रहा हूं कि आप ईमानदार नहीं हैं। जब आपने यहां कदम रखा तो आपने पहला झूठ बोला कि आपको मुझसे मिल कर बहुत प्रसन्नता हुई। इसलिए आप इस शहर में रहने लायक नहीं हैं।"

अब मेरे पास, जहां से आया था वहां जाने के अलावा, कोई चारा नहीं था। तब से मैं यहां रह रहा हूं और सोचता हूं कि यहां का जीवन ज्यादा अच्छा है। यहां और वहां के लोग लगभग एक-से हैं। बस फर्क है तो इतना कि यहां लोग कभी-कभी रंगीन और सुखद झूठ बोल लेते हैं। ❑

'आजकल' की विज्ञापन दरें

	अनियत	चार अधिक निवेशन के लिए
	रुपये	रुपये
पूरा पेज	1300.00	1000.00
आधा पेज	800.00	600.00
विशेष कवर पोजीशन		
अंतिम आवरण	2500.00	2300.00
दूसरा आवरण	1900.00	1600.00
तीसरा आवरण	1500.00	1300.00

रंगीन अधिभार : प्रत्येक रंग के लिए 33.3 प्रतिशत अतिरिक्त (केवल चार रंगों तक सीमित)

विस्तृत जानकारी के लिए संपर्क करें :

विज्ञापन व्यवस्थापक

प्रकाशन विभाग

ईस्ट ब्लाक-1, लेवल-5, रामकृष्णपुरम,
सेक्टर-1, नई दिल्ली-110066

संस्कृत साहित्य की औपन्यासिक परंपरा

यद्यपि यह आम धारणा है कि उपन्यास विश्व को पश्चिम की देन है, पर संस्कृत में उपन्यासों की एक लंबी परंपरा रही है जिसका परिचय दे रहे हैं **जगदीश त्रिपाठी**

जिस प्रकार आदिम मनुष्य के कल्पनामय जीवन का लयात्मक वाक् प्रदर्शन कविता में हुआ और कालक्रम में वह दरिद्रनारायण का गीत बना, उसी प्रकार मनुष्य के यथार्थ जीवन का रागात्मक प्रदर्शन गद्य रूप उपन्यास तथा उपाख्यान आदि में हुआ है। उपन्यास आधुनिक युग की प्रगतिशील गद्य विधा है। यह नव्यतम युगबोध पर आधारित व्यक्तिमूलक चेतना से मंडित साहित्यिक विधा है। यह गद्य की सबसे अधिक प्रिय तथा सशक्त विधा है। मानव जीवन की जितनी अधिक व्यापक व्याख्या गद्य के माध्यम से की जा सकती है उतनी पद्य में नहीं : अथच गद्य में भी औपन्यासिक प्रस्तुति सर्वश्रेष्ठ मानी गई है—*गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति* (गद्य ही लेखन कला की कसौटी है)। वस्तुतः उपन्यास में मनोरंजकता के साथ-साथ जीवन की यथार्थता का सुखद सम्मिश्रण रहता है। उपन्यास वास्तविकता का प्रतिपादन करता है। इस विधा में जीवन के लघुतम और साधारणतम तथ्यों को भी पूरी स्वच्छता तथा स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया जा सका है। इस प्रकार यह मानव-जीवन की सर्वतोमुखी स्वतंत्रता की उद्घोषक विधा है।

उपन्यासकार प्रेमचंद ने उपन्यास की परिभाषा इस प्रकार दी है : 'मैं उपन्यास को मानव चरित्र का चित्र समझता हूं। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूल तत्व है। इसका तात्पर्य यह है कि उपन्यास से जीवन का साक्षात प्रतिबिंबन हो सके। यही उसकी सफलता है। जीवन के तथ्यों का उद्घाटन उपन्यास में आवश्यक है।' यहां प्रेमचंद भी उपन्यास की यथार्थता पर बल देते हैं। श्यामसुंदर दास ने मानव जीवन के सुख-दुख की भावमयी झांकी प्रस्तुत करने वाली और नित्य प्रति प्रेरणा देने वाली दीर्घात्मक गद्यकृति को कमोवेश उपन्यास माना है। और इसी के आसपास ही अन्य परिभाषाएं भी ठहरती हैं। अर्थात उपन्यास को 'सामान्य तौर पर ऐसी प्रबंधात्मक गद्यकृति के रूप में रेखांकित किया जा सकता है जिसमें मानव जीवन के विविध उदात्त-अनुदात्त पक्षों के प्रस्फुटीकरण के साथ ही मूल्यों पर आधारित ऐसी उद्देश्यात्मकता समाविष्ट हो जो पाठक के जीवन में अनुस्यूत अनुभवों को परिष्कृत तथा समृद्ध करती हो।'

आधुनिक युग के अधिकांश प्राच्य व पाश्चात्य समीक्षकों ने उपन्यास को आधुनिक युग की सृजनात्मक क्षमता का आविष्कार स्वीकार किया है और यह दिखाने का प्रयास किया है कि इसके पूर्व भारतीय साहित्य में ऐसी कोई विधा विद्यमान नहीं थी। कतिपय समालोचकों ने अपने क्षीण तर्कों के आधार पर यह भी स्वीकार कराने की चेष्टा की है कि आधुनिक हिंदी या समकालीन भाषाओं के साहित्य को यह विधा यूरोप से विरासत के रूप में मिली और वे कमोवेश उसमें सफल भी रहे। जबकि सत्य इससे पूर्णतया अलग है। संस्कृत साहित्य में उपन्यासों की सशक्त व समृद्ध तथा सुदीर्घ परंपरा पांचवीं-छठी शताब्दी के उस युग से ही विद्यमान है जब अन्यत्र इसका अवबोध हमें नहीं प्राप्त होता। इन यूरोपीय परंपरा समर्थक स्थापनाओं को उन बातों से भी शक्ति प्राप्त हुई जिसमें *अमरकोश* (1-6-5) और *अग्निपुराण* (337-15 से 17), *काव्यालंकार,* दंडी के *काव्यादर्श* तथा विश्वनाथ के *साहित्य दर्पण* में गद्य के कथा व आख्यायिका भेदों की कल्पना की गई और समस्त नाटकेतर, चंपूव्यतिरिक्त व शास्त्रीय गद्य के अतिरिक्त सृजन को इन भेदों में समाविष्ट कर दिया गया। पतंजलि ने *महाभाष्य* में आख्यान (ऐतिहासिक वृत्त) को कथा का पर्यायवाची कहा है। वस्तुतः परवर्ती काल में जो कथा व आख्यायिका नामक सुरसा सदृश भेद गढ़ लिए गए, उसके लिए प्रेरणा बाणभट्ट के दोनों ग्रंथों—*कादंबरी* और *हर्षचरित* से प्राप्त हुई और एक को कथा तथा दूसरे को आख्यायिका में अंतर्भूत किया गया। बाद में कथा में तो उस समस्त गद्यात्मक वृत्त को मान लिया गया जो कवि कल्पित वस्तु वाली हो और इसमें *बृहत्कथा* से लेकर पद्यात्मक *कथासरित्सागर* व अंततः उपन्यासों (कल्पित वृत्त वाले) तक को प्रविष्ट कर दिया गया। और बचे हुए अन्य ऐतिहासिक, घटना प्रधान व चरित्र प्रधान उपन्यासों को (जिनके नाम प्रायः नायिकाओं के आधार पर थे—*वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी)* आख्यायिका में सम्मिलित कर दिया गया। इसके पश्चात भी जो चरित्र प्रधान उपन्यास *(दशकुमारचरितम्)* बच रहे उन्हें सिर्फ गद्य साहित्य मानकर उनके भाग्य पर छोड़ दिया गया। *बृहत्कथा, बृहत्कथामंजरी, कथासरित्सागर* तथा बुधस्वामी के *बृहत्कथाश्लोकसंग्रह* आदि वृत्तियों की, जिनका कथातंत्र (वस्तु) सैकड़ों अंतर्कथाओं को अपने में समेटे एक ऐसी मूलकथा की पुष्टि करता है, जो अपने में पूर्ण हो, विधा का तो अद्यावधि साहित्य में अभाव ही है और इसे बृहत्कथा (लंबी कहानी) का नाम देकर उपेक्षित छोड़ दिया गया।

ये जो कथा व आख्यायिका नामक भेद बने, इनका विभाजन इतना अधिक अस्पष्ट रहा कि वह अपूर्ण, अव्यापक तथा संकुचित प्रतीत होता है। यही वजह है कि प्रसिद्ध संस्कृत समालोचक आचार्य दंडी को इस विभाजन को व्यर्थ व आधारहीन कहना पड़ा। एक उदाहरण इस बात को और भी स्पष्ट कर देगा। कथा का लक्षण देते समय काव्यशास्त्रियों ने कहा कि 'कथा' की भाषा सिर्फ प्राकृत ही हो सकती है और *कादंबरी* को कथा भेद में रखा। यह जगत विश्रुत है कि *कादंबरी* संस्कृत भाषा का एक रत्न है। अब भला

यह उपर्युक्त लक्षण के आधार पर कथा कैसे ठहरेगी? इसी प्रकार आख्यायिका में कथा का वक्ता स्वयं नायक ही होता है, और जिन ग्रंथों को इस कोटि में रखा गया उनमें एक का भी वक्ता नायक स्वयं नहीं है। और यदि ऐसा कोई ग्रंथ हो तो उसे आत्मकथा की कोटि में ही रखा जाएगा, आख्यायिका में नहीं, जैसा कि *हर्षचरित* के बारे में बताते हैं। इसी प्रकार इन दोनों भेदों के निराकरण के लिए उनमें कतिपय ऐसे लक्षण दे दिए गए हैं जिनमें समस्त विश्व साहित्य ही समाहित हो जाएगा। यथा : रचना कहीं गद्य तथा कहीं पद्य में, विषयवस्तु कविकल्पित या ऐतिहासिक। अब यहां यह देखा जा सकता है कि सभी ग्रंथों (चाहे वे जिस विधा में हों) की वस्तु या तो कविकल्पित होगी या फिर ऐतिहासिक। इसी प्रकार कोई भी रचना या तो गद्य के माध्यम से होगी या फिर पद्य में। अब भला कौन साहित्य गद्य-पद्य से भिन्न होगा और कथा व आख्यायिका में नहीं समाहित हो जाएगा?

इस प्रकार सुशील कुमार डे ने भी इस विभाजन को तर्कहीन व बकवास ही बताया है।

संस्कृत के ज्ञात प्रथम तीन उपन्यास हैं—*वासवदत्ता, सुमनोत्तरा, भैमरथी*। इन तीनों का उल्लेख पतंजलि ने अपने *महाभाष्य* में किया है। इन तीनों के ही नाम आधुनिक *चित्रलेखा, मृगनयनी* इत्यादि की तरह इनकी नायिकाओं के आधार पर रखे गए हैं। परंतु दुर्भाग्य से ये तीनों उपन्यास संज्ञावशिष्ट हैं।

आंध्रभृत्य राजाओं (29 से 195 ई. पू.) के शासन काल में भी हमें कुछ संस्कृत उपन्यासों का जिक्र प्राप्त होता है जिसमें श्रीपालित कृत *तरंगवती* तथा किन्हीं अज्ञात लेखकों द्वारा *मनोवती व शातकर्णीहिरन* प्रमुख हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी चूंकि परवर्ती कवियों के द्वारा प्रतिष्ठित आख्यायिका ग्रंथों के रूप में उल्लिखित हैं अतएव ये नायिकाओं के नामों पर आधृत शृंगारिक उपन्यास रहे होंगे। कल्हण कृत *सूक्तिमुक्तावली* में हमें शेखर वर्मा द्वारा रचित *आश्चर्यमंजरी* नामक आख्यायिका की प्रशंसा मिलती है। बाणभट्ट ने *हर्षचरित* में भट्टार हरिश्चंद्र का उल्लेख अत्यंत सम्मानपूर्वक किया है और यह कहा है कि उनका गद्य लेखन सर्वश्रेष्ठ है। इससे स्पष्ट है कि बाणभट्ट ने अपने *कादंबरी* नामक उपन्यास का आदर्श शायद भट्टार हरिश्चंद्र के *मालती* नामक उपन्यास को ही रखा है किंतु दुर्भाग्य से हमारे पास इन बहुमूल्य कृतियों की समीक्षा करने के लिए इनके नाम के सिवा कुछ भी नहीं है।

संस्कृत का प्रथम बहुश्रुत उपन्यास होने का गौरव दंडी (चतुर्थ सदी) के *दशकुमारचरित* को है। यह बड़े कलेवर का होने के कारण ही उच्छ्वासों में विभाजित एक चरित्रप्रधान यथार्थवादी उपन्यास है। इसकी कथावस्तु संभवतः *बृहत्कथा* पर आश्रित है और इसमें आठ राजकुमारों की मनोरंजक तथा यथार्थपरक साहसिक यात्राओं के अनुभवों का वर्णन है। बड़े होकर एक-दूसरे से छूटे ये राजकुमार विभिन्न स्थलों की यात्रा करके अचानक पुनः मिलते हैं। और इन्हीं दस राजकुमारों की साहसिक विजययात्राओं का वर्णन *दशकुमारचरित* है। *दशकुमारचरित* का कथानक प्रायः कविप्रसूत है। और सुदीर्घ होने के बावजूद पूर्णतया अन्वित तथा एकीभूत है। वस्तु की दृष्टि से यह पूर्णतया संगठित है जो किसी भी उपन्यास की श्रेष्ठता के लिए अपरिहार्य है। यह अन्विति कथासूत्रों की संक्षिप्त योजना में नहीं वरन स्रष्टा (दंडी) की अंतर्दृष्टि की एकता में है। इन्होंने वस्तु का संयोजन इस प्रकार किया है कि संपूर्ण वृत्तांत एक छोटी-सी कहानी के विविध आयाम बन जाते हैं।

दंडी के उपन्यास की चेतना भूमि सामाजिक समस्याएं हैं। निम्नवर्गीय प्रसंगों को केंद्र में लेकर चलने वाला यह विश्व साहित्य का प्रथम उपन्यास है। इस ग्रंथ की मुख्य रोचकता ही इसी में है। तत्कालीन समाज की समस्त विसंगतियों यथा—पुरोहितों का भ्रष्टाचार, देवलोक के प्रति अश्रद्धा, चोर-जुआरियों के सहज वृत्तांत, निम्नस्तरीय जीवन, मायावी साधु, वेश्याओं का बाहुल्य इत्यादि को दंडी ने खूब छककर उकेरा है। यही कारण है कि कुछ रूढ़िवादी चिंतकों ने उन्हें अनैतिक लेखक की संज्ञा भी दी है। उन्होंने समाज को जैसा देखा वैसा लिख दिया। किस प्रकार वेश्या धार्मिक तपस्वी को पथभ्रष्ट करती है और कैसे राजसंरक्षण प्राप्त लोग उसके ही खिलाफ षडयंत्र करते हैं, कैसे योग्य व्यक्ति राजतंत्र से दूर रहते हैं और मूर्ख और चाटुकार उनके समीप पहुंचने में कामयाबी हासिल कर लेते हैं, कैसे ब्राह्मणों ने केवल सोने के पात्रों से ही यज्ञ कराने की बात की, आदि कटु सामाजिक सत्य इसमें विवृत हैं। पुरोहितों को इसमें *धरणि-तल-तैतिक्त* (गैंडा यानी, खाकर मोटे हुए) कहा गया है। बौद्ध भिक्षुणियां निर्धनता के कारण विवाह में दौत्य कर्म करती हैं, और राजा के पुरोहित में ब्रह्मा की पवित्रता है—इत्यादि सामाजिक व्यवस्था पर करारा व्यंग्य है। इस प्रकार दंडी के काव्य का देश-काल नितांत रूप से भौतिक है और छल-कपट, मारपीट, सच-झूठ से ओतप्रोत तथा सजीव है। इस रूप में दंडी जनकवि ठहरते हैं और आभिजात्य लेखन के विरुद्ध हैं। उन्होंने समाज को पैनी दृष्टि से देखा तथा धूर्तों व पाखंडियों पर खूब फब्तियां कसीं।

दंडी शिल्प के पीछे हाथ धोकर नहीं पड़ते। यही कारण है कि उनका उपन्यास एक सहज कलारूप है। उन्होंने अपनी वस्तु को विशिष्ट विवेचन शक्ति प्रदान कर दी है और वह ग्रंथ का स्वर तथा स्वरूप निरंतर बदलते रहते हैं। उच्छ्वासों में विषय-विच्छेद नहीं है। भाषा के मामले में दंडी अफलातून और पूर्णतया पूर्वाग्रहमुक्त हैं। उन्होंने यदि 'रामेषु' नामक सीरिया की शामी भाषा का शब्द प्रयुक्त किया है (जिसका अर्थ है सुंदर ईसा) तो 'मुद्गु' नामक उस विदेशी जंगी जहाज का भी जो झपट्टा मारने वाले पक्षी के समान है। वह सिर्फ सरल व सुबोध भाषा का ही इस्तेमाल करते हैं तथा कर्णकटु ध्वनियों और अतिशयोक्ति तथा शब्दाडंबर से पूरी तरह परहेज रखते हैं। यही वजह है कि वह पदलालित्य में आगे बढ़ जाते हैं—दण्डिनः *पदलालित्यम्*।

दंडी के वर्णनों में अत्यधिक संवेग तीव्रता है। वह जो कहना चाहते हैं उसे कुशलतापूर्वक पात्रों से कहलवा देते हैं। यही वजह है कि उन्होंने वस्तु की अपेक्षा पात्रों के व्यक्तित्व विकास (चरित्र-निर्माण) को सार्थक किया है। महत्वपूर्ण पात्रों में जीवन डालकर ही वह संतुष्ट नहीं होते अपितु गौण पात्रों को भी पर्याप्त महत्व देते हैं। काममंजरी (वेश्या), धूमिनी (क्रूर-नारी), गोमिनी (पतिपरायण नारी), मरीचि (कामातुर ऋषि), कलहकंटक (परस्त्रीरत), उपहार वर्मा (कार्यदक्ष), वसुरक्षित (योग्य अमात्य) तथा विहारभद्र (धूर्ताधिराज) आदि सभी में मानवोचित दृष्टि, शोक, सुख, दुख, राग-द्वेष, प्रेम-घृणा तथा आशा-निराशा व्याप्त हैं।

और अंततः यह उपन्यास विशिष्ट जीवनदृष्टि पर आधारित मूल्यात्मक उद्देश्यों से प्रेरित है। इसमें ईर्ष्या, घृणा, द्वेष, हिंसा, व्यभिचार, बलात्कार, चोरी, अनैतिकता आदि सभी कुछ है। इसके द्वारा दंडी का उद्देश्य है—समाज की बुराइयों का पर्दाफाश कर जनता को सावधान करना, दंभी, पाखंडी, अभिचाररत तथा स्वार्थपरायण व्यक्तियों से सतत जागरूक रहने की शिक्षा देना और स्वस्थ परंपराओं को आश्रय देना। दंडी सैद्धांतिक नहीं, आदर्शोन्मुख यथार्थवादी हैं।

दंडी के पश्चात् सुबंधु (620 ई. से 640 ई.) एक प्रखर उपन्यासकार रहे जिनकी कृति *वासवदत्ता* शृंगारप्रधान व घटनाप्रधान उपन्यास है। इसकी कथा

भी कविप्रसूत है। इसमें राजा चिंतामणि के पुत्र कंदर्पकेतु नामक राजकुमार और राजा शृंगारशेखर की पुत्री राजकुमारी वासवदत्ता के प्रणय और परिणय का वर्णन है। और इस प्रकार इसकी कथावस्तु स्वल्प है। यहां यह ध्यातव्य है कि इस 'वासवदत्ता' का प्रारंभ में बताई गई 'वासवदत्ता' से कोई संबंध नहीं है। चूंकि कथानक अत्यल्प है अतः यहां लेखक ने विस्तार के लिए वर्णनों का आश्रय लिया है। वर्णनाधिक्य में वस्तुवेग क्षीण हो गया है किंतु यहां उपन्यास की कथावस्तु वैयक्तिक जीवनानुभूति का सहज रूपात्मक विस्तार है अतः शिथिल होने पर भी वस्तु में अंतर्सूत्रों की एकता विद्यमान है जो इसे इस आक्षेप से बचाती है। परंतु यह सही है कि इस उपन्यास में दंडी की तीव्र निरीक्षण शक्ति व यथार्थवाद का अभाव है जिससे यह विद्वानों में प्रिय रहा और जनसाधारण का स्नेहभाजन नहीं बन सका।

वासवदत्ता में हमें शैली का व्यायाम दृष्टिगोचर होने लगता है और उपन्यासकार इसे प्रत्यक्षरश्लेषमय कहने में तृप्त होता है। इस योग्यता प्रदर्शन में वह इस बात को भूल ही जाता है कि भाषायी दुरूहता संप्रेषणीय भावों को भी असहजबोध्य बना सकती है। दीर्घसमास, व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों के प्रति अनुराग, अतिशयोक्तियां, श्रुतिकटुध्वनियां, अंततः श्लेषालंकार का प्रयोग यहां पर वस्तु को पाठक से एकीभूत होने में बाधा पहुंचाते हैं।

वासवदत्ताकार काव्यशास्त्र, दर्शन, पुराण और व्याकरण संबंधी अपने ज्ञान-प्रदर्शन से सिर्फ सुधी-संगोष्ठियों में ज्ञेय हो जाते हैं। *वासवदत्ता* में व्यष्टिवादी अनुभूतियों का आश्रय है अतः चरित्रों को निखारने में भी सुबंधु दंडी से पीछे हो जाते हैं। इसमें जीवन-दर्शन का सकारात्मक स्वरूप भी कुछ आर्यजनों तक सीमित है। इस प्रकार जीवनदृष्टि, संवेग और शिल्प आदि की दृष्टि से *वासवदत्ता* फंतासी होने के बाद भी कोसों पीछे रह गई।

तदंतर संस्कृत साहित्य में उपन्यास-सम्राट बाणभट्ट का समय आता है। उनका प्रथम उपन्यास *हर्षचरित* एक ऐतिहासिक- सह-सांस्कृतिक उपन्यास है। इसमें आठ उच्छ्वासों में हर्षवर्धन के पूर्वजों और हर्ष के जन्म से लेकर राज्यश्री के मिलने तक का वर्णन है। यह कृति अपूर्ण है। फिर भी भारत का प्रथम सुगठित कलेवर वाला ऐतिहासिक वृत्तात्मक उपन्यास होने का श्रेय इसे है। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से इसका मूल्य अधिक है परंतु इस ऐतिहासिक वस्तु में कहीं भी रूक्षता नहीं आने पाई है और प्लाट निरंतर यथावश्यक रूप से गतिशील रहा है। हालांकि इसमें कालिकक्रम दुर्बल व अव्यवस्थित है परंतु यह इसकी सांस्कृतिकता का अवमूल्यन नहीं करता। सेना के, राजगृह के, धार्मिक संप्रदायों के बौद्धों के साथ उनके संबंधों के, ब्राह्मणों के, अध्यवसायियों के, राजकीय मित्रों के तथा अंततः तत्कालीन सांस्कृतिक परिवारों के उसके चित्र बहुमूल्य साहित्यिक शैली में निबद्ध हैं हालांकि साहित्यिक उपन्यासकार होने की दृष्टि से उनकी अपनी स्पष्ट सीमाएं थीं। यहां संगठन की बौद्धिक योजना तथा प्रस्तुतीकरण की सूक्ष्मता परिलक्ष्य है और यह सब उनके असाधारण भाषा ज्ञान के कारण ही संभव हो सका।

अपने चरित्रों को हर्षचरितकार ऐतिहासिक पुरुष होने के साथ ही समाज के इतना अधिक करीब ला देता है कि पाठक स्वयं को उसका एक पात्र समझने लगता है। लेखक संप्रेषणीयता का धनी लगता है और भाषा पर उसकी पूर्ण पकड़ है। ऐतिहासिक उपन्यास लेखन अत्यंत दुष्कर कार्य माना जाता है। सफल ऐतिहासिक उपन्यासकार में इतिहास की सच्चाई भी मिलती है और कल्पना का मनोरंजन भी। और इस दृष्टि से बाणभट्ट ने *हर्षचरित* में इतिहास की यथार्थ कटुता को कल्पना की मधुर सरसता प्रदान करके इतिहास को कला का रूप दे दिया है।

कादम्बरी (बाणभट्ट की दूसरी व प्रौढ़ कृति) सातवीं सदी के उत्तरार्द्ध में लिखा गया संस्कृत उपन्यास साहित्य का अनमोल रत्न है। यह उपन्यास की नायिका पर संज्ञेय एक उद्दाम कोटि का शृंगारिक उपन्यास है। यह एक काल्पनिक कथा पर आधारित कृति है जिसमें चंद्रापीड, वैशंपायन, पत्रलेखा, इंद्रायुध तथा चांडालकथा आदि के तीन-तीन जन्मों की कथा है, जो अंतःसूत्रता में पूर्णतया अन्वित एक दीर्घवस्तुविन्यास है। डा. कीथ के अनुसार 'इसका जटिल कथाविन्यास अपने ही वैशिष्ट्य से युक्त एक ऐसा भव्यतम कला रूप है जो वृहत् आख्यान में पात्रों के कथोपकथनों से अंतर्निविष्ट है। प्रधानकथा में अंतर्कथाओं का संश्लेषण अत्युत्कृष्ट है। इसका मुख्य आख्यान वास्तव में ऋषि जाबलि के मुख से कहलाया गया है। शायद इस कथा का स्रोत बाण को *वृहत्कथा* और *कथासरित्सागर* के राजा सुभनस् की कथा से प्राप्त हुआ था।

कादम्बरी के पात्र व्यक्तिवाद से मंडित हैं। बाणभट्ट में चरित्र चित्रण की अद्भुत कला है वह पात्रों को सजीव करके मूर्तिमान कर देते हैं। और पाठक उनसे तादात्म्य स्थापित कर लेता है। पाठक को इतना अनुभव होता है कि इन परिस्थितियों में वह भी ऐसा ही सोचता या करता। प्रातःकाल, संध्या, शूद्रक वर्णन, शुक वर्णन, चांडाल कन्या वर्णन, विंध्याटवी वर्णन, शबरसैन्य वर्णन, जाबाल्याश्रम वर्णन, कादंबरी महाश्वेता वर्णन आदि को लेखक की तूलिका ने खूब संवारा है। लेखक संसार के मार्मिक भावों के पक्षों का धनी है और उसकी लोकवृत्त की जानकारी आश्चर्यजनक तथा यथार्थता और भी चमत्कारिक है। भौतिकवाद से ऊबा हुआ लेखक लक्ष्मी को तृष्णारूपी विषसंवर्धन के लिए जलधारा के समान मानता है। प्रकृति लेखक को सर्वाधिक लुभाती है। और इस प्रकार वह नैसर्गिक जीवन का पक्षपाती है।

कादम्बरी के पात्रों में अद्भुत संवेगशीलता है। कहीं-कहीं उनकी भाषा इतनी कोमल व सरल हो जाती है कि भावों पर चिंतन ही नहीं करना पड़ता। यथा—महाश्वेता में नवयौवन का प्रवेश इस तरह हुआ जैसे वसंत में चैत्रमास, चैत्रमास में पल्लव, नवपल्लव में फूल, फूल में भौंरा, भौंरे में मद आदि *(क्रमेण च कृतं में वपुषि वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण मधुकर इव मदेन नवयौवनेन पदम्)* या प्राणपरित्याग करके भी मित्र की रक्षा जरूर करनी चाहिए *(प्राणंपरित्यागे पिहि रक्षणीया सुहृदसवः)*।

भाषा पर लेखक का अधिकार रहा है और शब्द चयन पर उसकी प्रभुता। शायद इसीलिए कुछ कम पढ़े-लिखे पाश्चात्य समीक्षक इसे एक जंगल मान लेते हैं।

कादम्बरी के एक रोमांटिक उपन्यास होने के बावजूद इसकी आधारभूमि तत्कालीन भारतीय समाज है। वर्णों की स्थिति, नारी की हीन दशा, समाज में निम्नवर्गों की दयनीय स्थिति, संस्कृति, रूढ़ियां और परंपराएं, विविध मान्यताएं तथा कलाओं का सापेक्ष वर्णन और लेखक का कथ्य उसके समाज का सजग प्रहरी होने का एहसास दिला देता है। प्रेम में भी बाण मर्यादा के समर्थक हैं और वह तपःपूत प्रेम के पक्षपाती हैं। इस प्रकार उनके पात्र कादंबरी, चंद्रापीड, शुकनाश, आदि विश्वजनीन नागरिक हैं और सर्वत्र प्राप्य हैं।

अपनी विशिष्ट प्रकृति के कारण *कादम्बरी* मर्यादित प्रेम संबंधी तथा अन्य बहुमूल्य सामाजिक स्थापनाओं संबंधी अपनी अभीप्सित सृष्टि को स्वीकार कराने में सफल हो जाती है। *कादम्बरी* उपन्यास जगत का भव्यतम कला प्रासाद है।

सातवीं सदी से लिकर अठारहवीं सदी तक का प्रायः कोई भी बड़ा

संस्कृत उपन्यास हमें नहीं प्राप्त होता। यह एक अविश्वसनीय रिक्ति है। इस युग में कोई बड़ी औपन्यासिक रचना नहीं हुई होगी, इस बात पर सहसा हमें विश्वास ही नहीं होता। संभवतः इस युग की कृतियां जो नष्ट होने से बची होंगी, उनका पाया जाना अभी शेष है और उनकी संभावना उन असंख्य पांडुलिपियों में खोजी जा सकती है जो अभी तक अप्रकाशित हैं और या तो पुस्तकालयों व अभिलेखागारों की शोभा हैं अथवा कुछ तत्संबंधित उत्तराधिकारियों की।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में संस्कृत उपन्यासों में तब एक और क्रांति आई जब अंबिकादत्त विरचित *शिवराज विजय* नामक सामाजिक समस्यायुक्त ऐतिहासिक घटनाप्रधान उपन्यास लिखा गया। यह वह समय था जब यूरोप में उपन्यास विधा परिपक्व हो रही थी और हिंदी आदि भाषाओं में *अंधेर नगरी* व *परीक्षागुरु* जैसे प्रयोग शुरू हो रहे थे। यह एक वृहदाकार विशुद्ध उपन्यास है जिसमें 12 अध्यायों में शिवाजी का संपूर्ण जीवन कैद है। इसमें दो एक-दूसरे की पूरक स्वतंत्र कथाएं चलती हैं जिनमें एक का नायक शिवाजी तथा दूसरे का नायक रामसिंह है। शिवाजी, गौरसिंह, अपजल खा (अफजल-खां), रसनारी (रोशनारा), अवरंगजीव (औरंगजेब) आदि प्रमुख पात्र हैं।

इस उपन्यास का देशकाल अठारहवीं सदी का भारत है। लेखक समाज व राजनीति की तमाम विसंगतियों की गहरी पकड़ रखता है। इसका रूप विधान पाश्चात्य प्रणाली वाले बंगला उपन्यासों के करीब है। इसमें प्राच्य व पाश्चात्य प्रगतिवादी उपन्यास हैं। यह संस्कृत गद्य में नवीन युगधारा का प्रवर्तक है। लेखक का आग्रह घटनाओं के वैविध्य पर है और वह राष्ट्रीय भाव से ओतप्रोत है।

चरित्रों को निखारने में लेखक सिद्धहस्त है और अपने पात्रों को सजीव कर देता है। अफजल खां की दिनचर्या का एक अंश यहां प्रस्तुत है - 'आज नृत्य, आज संगीत, आज नौटंकी, आज मदिरा, आज वेश्यागमन, आज भ्रूणहत्या, आज वीणावादन—आदि इसी प्रकार के उच्छृंखल व स्वच्छंद आचरणों में लीन होकर वह समय व्यतीत कर रहा है।' *(अद्य नृत्यम्, अद्य गानम्, अद्य लास्यम्, अद्य मद्यम्, अद्य वरांगना, अद्य भूकुंसकः, अद्य वीणावादनम् इति स्वच्छन्दैरुच्छृङ्खलाऽऽचरणैर्दिनानि गमयति)।*

शिवराज विजय के संवाद बहुत रोचक तथा आवश्यकतानुरूप छोटे व बड़े हैं। संवादों में उन्होंने मुहावरों का खूब इस्तेमाल किया है और जरूरत के मुताबिक उर्दू, अरबी तथा लोकभाषाओं के शब्दों को बिना हिचक के प्रयुक्त किया है। उनकी भाषा में प्रवाह है तथा कथाप्रवाह अव्याहत है। *शिवराज विजय* की भाषा इतनी सरल है कि बिल्कुल संस्कृतनिष्ठ हिंदी जैसी लगती है।

इस उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें इतिहास के यथार्थ का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है और कालिक क्रम भी व्यवस्थित है। तत्कालीन सामाजिक व आर्थिक अवस्था दिखाने में उपन्यासकार सफल रहा है। इस प्रकार *शिवराज विजय* नई गद्य धारा के उपन्यासों से प्रभावित नवजागृति तथा नवचेतना (रिनेसां) का प्रतीक है।

मंदारमंजरी उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही लिखा गया विश्वनाथ द्वारा एक रोमांटिक उपन्यास है। इसमें पुष्पपुर के राजा राजशेखर एवं रानी मलयवती के पुत्र राजकुमार चित्रभानु और विद्याधर चंद्रकेतु एवं चंद्रलेखा की पुत्री मंदारमंजरी के प्रणय और परिणय का वर्णन है। इस प्रकार इसकी भी वस्तु कवि प्रसूत है तथा उपन्यास का नाम उसकी नायिका के नाम पर है। इस ग्रंथ की कथा भी *कादम्बरी* की तरह उलझी हुई है और कई उपकथाओं से युक्त है। किंतु लेखक बाण से बहुत पीछे छूट जाता है और वह उपकथाओं के चक्कर में मूलकथा को भूल जाता है। इसके चरित्रों में संवेगशीलता का अभाव लगता है और हृदयपक्ष की न्यूनता तथा वाग्जाल का प्राधान्य लगता है। और जो इसकी सबसे बड़ी न्यूनता है वह है लोकव्यवहार, लोकसंस्कृति तथा व्यावहारिकता से प्रायः अछूता रहना। हां, इतना अवश्य है कि जिन वर्णनों पर लेखक तुरी उठाता है; उसकी पैनी दृष्टि से उसका कोई कोना छूटा नहीं रह जाता।

इसके पश्चात् उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अन्य अनेकानेक संस्कृत उपन्यासों की रचना हुई जिनमें प्रगतिवादी, ऐतिहासिक, सामाजिक, शृंगारिक आदि सभी प्रकार के उपन्यास लिखे गए। इनमें चक्रवर्ती राजगोपाल कृत *शैवालिनी* तथा *कुमुदिनी,* कल्याणराम शास्त्री कृत *कनकलता,* वृषणमाचार्य कृत *मन्दारवती,* जग्गुआलवार आयंगर कृत *जयंतिका,* श्रीशैलरचित *मेनका,* नरसिंहाचार्य द्वारा कृत *सौदामिनी,* मेधाव्रत द्वारा लिखित *कुमुदिनीचन्द्र* तथा राजम्मा (लेखिका) द्वारा लिखित *चन्द्रमौलि* आदि प्रधान उपन्यास हैं। बीसवीं सदी में संस्कृत उपन्यासों की बाढ़ आ जाती है जिनका विवरण दे पाना न तो यहां आवश्यक है और न संभव ही।

इस प्रकार संक्षेप में संस्कृत उपन्यासों की सुदीर्घ और विकसित परंपरा पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न प्रकार के उपन्यास संस्कृत में तभी से लिखे जाते रहे हैं जबसे काव्य साहित्य। सामान्य तौर पर इन उपन्यासों की प्रवृत्ति शृंगारिक रही परंतु सामाजिक उपन्यास भी लिखे गए। इन समस्त उपन्यासों में लेखकों का विद्रोही स्वर रूढ़ सामाजिक व्यवस्था के विरोध के रूप में फूटा है। अभिजातवर्गीय आधिपत्य का विरोध कर एक सामाजिक समरसता लाने का आदर्श सभी उपन्यासों का प्रतिपाद्य रहा है और इस प्रकार संस्कृत उपन्यासों में 'लोकमंगल की साधना' है।

संस्कृत उपन्यासों में व्यक्तिवाद अविश्रान्त रूप से नहीं रहा है। समष्टिवाद का प्रस्फुटन मानवतावाद में हुआ है। भावुकता, कृत्रिम जीवन से असंतुष्टि, ऐंद्रिकता तथा भौतिकता को कम महत्व आदि प्रवृत्तियों ने इसे संवेदनशील बना दिया है और शायद यही कारण है कि ये लेखक नैसर्गिक जीवन तथा प्राकृतिक वर्णनों के प्रति द्रष्टव्य रूप से आग्रहशील हो उठे हैं।

संस्कृत उपन्यासों में लेखक कल्पनाप्रवण अंतर्दृष्टि से युक्त है और शायद इसीलिए उन्होंने इसे विस्तृत आयाम दे दिया है जो खटकता है, जैसे—टोने आदि अभिचारों में विश्वास, पुनर्जन्म और स्वप्न आदि। परंतु इसे पांचवीं-छठी सदी के देशकाल को देखते हुए गर्हणीय न समझकर अपेक्षित ही समझा जाएगा। संस्कृत उपन्यासों की एक अन्य प्रवृत्ति ऐतिहासिक तथा कवि प्रसूत वृत्तों को महत्व देने की रही है और उसमें यथार्थता पर बल दिया गया है किंतु कोरे सैद्धांतिक आदर्शवाद पर नहीं। हालांकि इस संबंध में कोई स्थिर मतवाद नहीं है।

संस्कृत उपन्यास कमोवेश शैली के प्रति भी आग्रहशील रहे हैं अतः उनका शिल्प भी आकर्षण का विषय है। इस प्राविधिक योग्यता ने कहीं भी रसानुभूति में बाधा नहीं पहुंचाई है वरन् सहायक ही रही है। संस्कृत के उपन्यास वर्गीय विरोधों पर केंद्रित नहीं होते वरन् आत्मसातीकरण (समन्वयवाद) के समर्थक हैं। संस्कृत की उपन्यास परंपरा इस रूप में आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक है।

पृष्ठ 31 पर जारी

कहानी

शरीर

• हेमांगिनी रानडे

जिस रात वह रोगिणी को अस्पताल में दाखिल कराने लाई थी, उषा वहीं थी। उसी वार्ड के एक बिस्तर पर उषा की बीमार मां लेटी थी। आधी रात की इस अनपेक्षित हलचल से जनरल वार्ड में बेचैनी की लहर दौड़ गई। नर्सों और डाक्टर की चुस्ती-फुर्ती से जाहिर था कि रोगिणी की हालत नाजुक है। नई बीमार के बिस्तर के चारों तरफ परदे लगा दिए गए।

थोड़ी देर बाद इंजेक्शन आदि देकर बीमार को सुला दिया गया। डाक्टर—और नर्सें भी—जरूरी हिदायतें देकर चले गए। वार्ड धीरे-धीरे पूर्ववत स्थिति में आ गया। बत्तियां मद्धिम कर दी गईं। उषा ने देखा, रोगिणी के साथ आई युवती, एक तरफ का परदा जरा-सा हटाकर पलंग के पास रखे स्टूल पर बैठ गई थी। कुछ देर खामोशी छाई रही। फिर यह सोचकर, कि शायद वह बेचैन होगी, उषा ने अपना स्टूल सरकाकर उस युवती के पास कर लिया।

उसने उषा की तरफ देखा।

उषा ने फुसफुसाकर पूछा, "आपकी मां हैं?"

"नहीं!" वह बोली, "सास हैं!"

"ओह! क्या हुआ है?"

"रात को खून की कै हो गई।"

"ओहो! डाक्टर क्या कहते हैं?"

"जांच करनी होगी। ब्लड प्रैशर बहुत बढ़ गया है।"

"शरीर भारी है, इसलिए शायद. ...."

तभी बाजू की चारपाई चरमराई

उषा उठकर मां के पास चली आई।

पौ फटते ही सुबह की कार्रवाइयां शुरू हुईं। परिचारिकाओं और नर्सों की हड़बड़ाहट .....। कुछ समय बाद उषा ने मुड़कर देखा, रोगिणी की शैया के पास परदे अभी खिंचे हुए थे। वह अंदर थी।

मां को नाश्ता करवाकर उषा, भाभी का इंतजार कर रही थी। उसने सोचा, आगंतुका को बाथरूम, किचन आदि दिखा दिया जाए। परदे को जरा हटाकर उसने अंदर झांका। रोगिणी की नाक पर आक्सीजन लगा था, और वह युवती बाजू के

स्टूल पर निर्विकार बैठी थी। उषा ने इशारे से उसे बाहर बुलाया।

"बाथरूम उधर है।"

"हां! मैं सुबह निबट चुकी।"

"पहले यहां आ चुकी हो?"

"हूं।"

"डिलीवरी के लिए?"

उस वार्ड में सभी महिलाएं वृद्ध और बीमार थीं। किसी हमउम्र को पाकर बोलने-बतियाने का उषा का जी कर आया। फिर अपनी वाचालता से लज्जित हो, उसने दूसरे दम पूछा—

"अब कैसी हैं आपकी सास?"

"बेहोश हैं।"

"आप घर नहीं जाएंगी?"

"थोड़ी देर बाद। मिस्टर आ जाएं।"

"अच्छा, मैं चलती हूं।"

गलियारे में से भाभी को आते, उषा ने देख लिया था।

"आपकी मां को क्या शिकायत है?" उसने एकदम पूछा—शिष्टाचारवश।

"किडनी की प्राब्लम है। अच्छा, चलूं।"

उषा निकलने लगी तो देखा, एक आदमी बाजू वाले बैड की तरफ आ रहा था। शायद यही उसके मिस्टर थे। दुबला, पतला, नाटा। सिर के बाल आधे से ज्यादा झड़ चुके थे। चेहरे पर घबराहट साफ दिखाई दे रही थी।

क्यों न हो! उसकी तो मां है! उषा ने सोचा।

वह गलियारे में पहुंची, तो पीछे कदमों की आहट सुनाई दी। मुड़कर देखा, वही युवती आ रही थी। उषा रुक गई।

"आपके मिस्टर आ गए?"

"हां!"

"लेकिन औरतों के वार्ड में....!"

"बाहर बरामदे में बैठेंगे।" उसने छोटा-सा जवाब दिया।

दोनों रास्ते पर आ गईं। एक-दूसरे की तरफ देखकर मुस्कराईं। फिर विपरीत दिशाओं में बढ़ लीं।

चलो! बातचीत करने के लिए कोई तो मिला, उषा ने सोचा, वर्ना शाम के बाद उस वार्ड में समय गुजारे नहीं गुजरता था। इसकी सास आठ-दस दिन और जी जाए, उसने मनाया। मां को अभी घर जाने में इतने ही दिन लगेंगे।

फिर उसने जुबान काट ली।

जी जाए, मतलब—ठीक हो जाए! बेचारी इसकी सास! लेकिन आठ-दस दिन बाद।

एक सरकारी दफ्तर की कैंटीन में हम प्रवेश करते हैं। छोटे-बड़े टेबुलों से अटा, बड़ा-सा हॉल। आदमी-औरत उमड़े पड़ रहे हैं। दोपहर के खाने का समय है। सारे टेबुल भरे हैं। भांति-भांति के खाने की गंध वातावरण में व्याप्त है। चिल्ल-पों मची है। वहां, उस कोने की टेबुल पर चार महिलाएं बैठी हैं। चलिए, वहीं चलते हैं। चारों औरतें हमउम्र हैं। पच्चीस से ऊपर, तीस से नीचे। सभी के गले में मंगलसूत्र लटक रहा है। और चारों, रंग-बिरंगी सिंथेटिक साड़ियां बांधे हुए हैं।

सामने टेबुल पर, घर से लाए खाने के डिब्बे खुले हैं। कुछ सामान कैंटीन से मंगवाया गया है। लेकिन खाना अभी शुरू नहीं हुआ है।

एक ने पूछा, "आफ्फो! यह मालू नहीं आई अभी तक। आज आफिस भी आई है कि नहीं?"

"आई है। मैंने देखा था। शायद टाइपिंग का पेज खत्म कर रही होगी।"

"इतना भी क्या काम करना! कब तक रुकें रहें उसके लिए?"

"आ जाएगी। बेचारी मन लगाकर काम करती है, तिस पर तुम...."

"मन लगाना ही पड़ता है। कहीं तो लगे। शादी हो जाएगी, तब इतना काम नहीं करेगी।"

"अपने अनुभव बता रही हो?"

सभी हंस दीं।

"कल फिर देखने वाले आने वाले हैं न, मालू को?"

"हां! भगवान करे, अब की बार जुगाड़ बैठ जाए। चार बार फेल हो चुकी है बेचारी।"

"फेल हुई है या सामने वाले को फेल किया है?"

एक ने लंबी सांस ली।

"यह बेचारी क्या खाकर फेल करेगी? शादी हो जाए, तो उन मुए भाई-भाभी से पिंड छूटे।"

"उनके लिए मुफ्त की नौकरानी जो ठहरी। वे क्यों अच्छा ठिकाना ढूंढने लगे उसके लिए? मां-बाप होते, तो बात दूसरी थी।"

"अरे नहीं। उन्हीं को जल्दी पड़ी है इसकी शादी की। यह घर से निकले तब वे अपना राजा-रानी का संसार सजाएं। उनके लिए तो यह कबाब में हड्डी है।"

"और क्या! एक कमरे में रहना, जवान बहन के साथ। अड़चन तो होगी ही।"

"तुम बताओ नीता, अब के कैंडिडेट कौन है?"

"है एक क्लर्क बैंक में। उम्र कुछ ज्यादा है। पर उससे क्या होता है?"

"मालू भी तो चौबीस-पच्चीस की है।"

"लो। वह आ गई मालू।"

सभी ने उत्सुकता से उस ओर देखा।

पतली-दुबली, छोटे-छोटे घुंघराले बाल, जिन्हें बेरहमी से पीछे बांध दिया गया है। चेहरे पर पसीना। दबती, बचती, हुजूम में से राह बनाती इस ओर आ रही है। पास आने पर दिखाई देती हैं उसकी बड़ी परंतु निस्तेज आंखें, और टाइपिंग करके थकी हुई पतली, लंबी उंगलियां। मालू, बंबई की आम कामकाजी लड़कियों में से है। इस समय कुछ बुझी-बुझी-सी।

वह धप् से खाली कुर्सी पर बैठ गई। हाथ का डिब्बा टेबुल पर रखा, और रूमाल से मुंह पोंछने लगी।

सभी ने अपने-अपने डिब्बों में से खाना बांटना शुरू किया।

"क्यों?" एक ने पूछा, "बॉस ने रोक लिया था क्या?"

"अच्छा?" दूसरी ने आंख नचाई।

मालू ने उसकी तरफ देखकर रुखाई से कहा, "हट्!"

"हट् की क्या बात है? अरे, इतनी बच-बचकर न रही होती, तो अब तक कोई न कोई तो फंस जाता इन घुंघराली लटों में।"

"कल फंसेगा ही।"

नीता ने अपनी गोद में से एक पुलिंदा उठा कर मालू को थमाया, "ले! मेरी पीली वाली सिल्क की साड़ी है। कल पहनना।"

मालू ने आंख झुकाकर पुलिंदा ले लिया।

सभी खाना खाने लगीं।

"और सुन!" एक सहेली ने चुटकी ली, "जब वह पूछे कि फेवरिट हीरो कौन है, तो उसे देखकर फिर नाम लेना। कहीं ऐसा न हो कि वह हो नाटा और तू अमिताभ कह दे।"

"हां! वह हो किडिकांप, और तू धर्मेंद्र बता दे।" दूसरी ने बात पूरी कर दी।

सभी हंसने लगीं। मालू को भी हंसी आ गई। झेंपी-सी हंसी।

हंसते समय मालू के चेहरे पर रौनक आ जाती है। आपने गौर किया?

शाम को जब उषा अस्पताल पहुंची, तो देखा गैलरी में उस युवती के पति बैंच पर बैठे ऊंघ रहे थे। अंदर रोगिणी के आसपास अब भी परदे खिंचे हुए थे। भाभी ने कहा–

"अभी वैसी ही है बेचारी। जांच-वांच तो हुई, पर अभी होश नहीं आया।"

"डाक्टर ने क्या कहा?"

"अड़तालीस घंटों तक कुछ नहीं कहा जा सकता है।"

उषा, भाभी को सीढ़ियों तक छोड़ने गई। बाजू वाली युवती के पति, गैलरी से झांककर शायद पत्नी का इंतजार कर रहे थे।

उषा लौटकर मां के पास बैठ गई और साथ लाई पत्रिका खोल ली। रात के नीम अंधेरे में पढ़ना कहां संभव था?

मां ने पानी मांगा। बोतल लेकर उषा बाहर निकली तो देखा, पति-पत्नी बातें कर रहे थे।

मां को पानी पिलाकर उषा मुड़ी। युवती आकर, उसी तरह परदा सरकाकर, स्टूल पर बैठ गई थी। उषा ने पत्रिका उसकी तरफ बढ़ाई।

"देखिए न! टाइम पास!"

औपचारिकतावश वह मुस्कराई। लेकिन उसका ध्यान उषा की तरफ नहीं था।

उषा ने पत्रिका स्टूल पर रख दी।

"भाईसाहब गए?"

"हूं।"

"बोर हो जाते होंगे दिन-भर?"

युवती मुस्कराई, "क्या किया जा सकता है?"

"आप कहां काम करती हैं?"

उसने बताया।

जाहिर था, वह ज्यादा बोलना नहीं चाहती।

उषा ने फिर पत्रिका उठा ली।

थोड़ी देर में शाम घिर आई। रात की ड्यूटी वाली नर्सों ने अपना-अपना काम सम्हाला। राउंड शुरू हुए। नर्स डिसूजा आई। यह नर्स बहुत भली, हंसमुख है। सभी से मुस्कुराकर बोलती है।

"क्या हाल हैं?" उसने मां की कलाई थामी।

नर्स डिसूजा को देखकर सारे रोगी मुस्कुराते हैं। मां ने कहा, "ठीक है। अब जल्दी घर जाने दो।"

"जाएंगा, जाएंगा।" कहकर उसने मां की पीठ थपथपाई।

पास वाले बिस्तर के परदे हटाकर नर्स ने अंदर झांका।

"मालती! तुम फिर इधर को आ गया? मना किया था न डाक्टर?" नर्स की आवाज में विस्मय के साथ तनिक गुस्सा भी था।

दूसरी आवाज उभरी।

"हम नहीं, नर्स। सास।"

"ओह! व्हॉट इज रांग?"

उषा के निठल्ले कान वहीं लगे रहे।

अच्छा! नाम है मालती। नर्स इसे पहचानती है। किसी बात के लिए डाक्टर ने इसे मना किया है। क्यों? क्या हुआ होगा? शायद बच्चे ज्यादा होंगे.....

उसका मन उधेड़बुन में लगा रहा।

जरा देर बाद नर्स अपने काम से निकल गई।

वह–मालती – आकर स्टूल पर बैठ गई।

"क्या कहा नर्स ने?"

"रात को स्पेशलिस्ट आएंगे, तब पता चलेगा। मालती ने कुछ रूखेपन से कहा। उषा को लगा, ज्यादा सवाल नहीं करने चाहिएं। उसे– मालती को–शायद ज्यादा पूछ-परख पसंद नहीं है।

नर्स के राउंड के बाद मरीजों के खाने का समय है। उषा मां को खिलाने में व्यस्त हो गई।

मालती ने पत्रिका उठा ली। उषा को तसल्ली हुई।

मरीजों का खाना हो गया। अब डाक्टरों के राउंड शुरू हुए।

चार-पांच डाक्टर, कुछ नर्सें, परिचारिकाएं। एक पूरी बटालियन।

उषा की मां से निबटकर सारा लवाज़मा बाजू के बिस्तर पर जा पहुंचा। परिचारिका ने परदे हटाए। रोगिणी वैसी ही लेटी थी। मुंह पर आक्सीजन लगा था। सब लोग अंदर गए। परदे फिर बंद हो गए। पर अब की बार दायरा कुछ बड़ा था।

राउंड के बाद वाला समय है, सगे-संबंधियों के खाने का। उषा घर से डिब्बा लेकर आती थी। सोचा, आज मालती के साथ खाएगी। परदा तनिक सरकाकर उसने अंदर झांका। मालती बिस्तर के पास खड़ी, रोगिणी को एकटक देख रही थी। उसके चेहरे पर उकताहट का भाव और उभर आया था।

परदे की आवाज से चौंककर उसने उषा की तरफ देखा।

"खाना नहीं खाओगी?"

"खाना?"

शायद उसके पास कुछ नहीं था। उषा ने कहा, "आओ, मिलकर खा लेते हैं। मैं डिब्बा लाई हूं।"

मालती ने अपने को समेटा, "यहां पास में होटल तो होगा?"

अस्पताल से बाहर आते ही दोनों ने अनायास लंबी सांस ली। गोया ताजी हवा के अभाव में फेंफड़े ऐंठ रहे थे। फिर दोनों हंस दीं।

खाना मंगवाया गया।

गप्प लड़ाते हुए दोनों ने खाना खाया।

तय हुआ, कि जब तक यहां रहना है, शाम का खाना साथ खाया जाएगा।

आइए, अब हम आपको ले चलते हैं बंबई की एक चाली में।

यह बंबई का भीड़ भरा मोहल्ला है। इसमें अनगिनत गलियां हैं। उनमें से एक में हम दाखिल होते हैं। ऊबड़-खाबड़, खुदा हुआ रास्ता, दोनों तरफ सामान से भरी छोटी-छोटी दुकानें, और उनकी भीड़ में छिपा एक अंधेरा जीना।

सम्हलकर पैर रखें। जीना टूटा हुआ है। लीजिए, यह पहली मंजिल आ गई। अब एक लंबा गलियारा, जिसमें कई घरों के दरवाजे खुलते हैं। वह सामने सार्वजनिक नल है। बर्तन-कपड़े धोने की जगह। आसपास काफी चहल-पहल है। सुबह का समय है। सभी को अपने-अपने काम निबटाने हैं।

जरा रुकिए। देखिए! सार्वजनिक नल से एक प्राणी इस तरफ आ रहा है, नहाकर। बाल अभी गीले हैं, साड़ी अस्त व्यस्त। हाथ में गीले, धुले हुए कपड़े हैं।

वह प्राणी एक कोठरी के आगे आकर रुकता है। कोठरी का दरवाजा अंदर से बंद है। दरवाजे के बाजू में लकड़ी की एक कुर्सी रखी है। प्राणी ने उस कुर्सी पर गीले कपड़े और तौलिया रख दिया। साड़ी ठीक की। फिर कुर्सी पर रखे पर्स में से कंघा निकाल लिया। उसके घुंघराले बाल, सिर के पीछे एक प्रभामंडल बना रहे हैं। पहचाना न! हां। मालू ही तो है। लेकिन अब मालू की गर्दन में एक मंगलसूत्र झूल रहा है। उसने भी सुहागिन का पद पा लिया है।

बालों को रुखाई से पीछे बांधकर उसने तौलिया कुर्सी के पीछे डाल दिया, और गीले कपड़ों को ऊपर अलगनी पर सुखाने को फैला दिया। फिर सिकुड़-सिमटकर वह उस कुर्सी पर बैठ गई।

चाली की औरतें काम के सिलसिले में उसके आसपास से गुजर रही हैं, लेकिन उस पर किसी का ध्यान नहीं जाता। गोया वहां कोई है ही नहीं, या मालू भी उस कुर्सी का ही एक अंग है। मालू भी चुपचाप बैठी है। सिर्फ उसका एक पैर जमीन पर उठ-गिर रहा है--मन की किसी बेतुकी ताल पर।

थोड़ी देर बाद बंद दरवाजा खुलता है। एक पुरुष बाहर निकलता है। पतला, नाटा, जिसके सिर के बाल आधे से ज्यादा झड़ चुके हैं। वह हाथ में लिया खाने का डिब्बा, प्लास्टिक के ब्रीफकेस में ठूंसने की कोशिश कर रहा है। जिस कुर्सी पर मालू बैठी है, उसके नीचे से अपनी चप्पलें निकालता है, पहनता है, और बिना मालू की तरफ देखे, चला जाता है। मालू भी उससे कोई बात नहीं करती। न उसकी तरफ देखती है।

अंदर कोठरी में से एक आवाज सुनाई देती है।

"डिब्बा लो।"

मालू उठती है। हाथ बढ़ाती है। दरवाजे में से एक मांसल हाथ बाहर आता है, जिसकी कलाई में सोने की चूड़ियां फंस रही हैं। उस हाथ में एक डिब्बा है। मालू वह डिब्बा लेती है। कुर्सी पर रखा पर्स उठाती है, और चप्पल पैर में डालती हुई जीना उतरने लगती है। ये सारी क्रियाएं यंत्रवत् हो रही हैं। गोया मालू यहां नहीं है, यह सिर्फ एक गुड़िया है, जो चाभी देने पर हरकत कर रही है।

वह जीना उतरती है। उस संकरी गली में से बाहर निकलती है, मोहल्ला पार करती है, और अब कुछ चपलता से पैर रखती, वह स्टेशन की ओर बढ़ जाती है। गुड़िया का खोया हुआ मन शायद शनैः शनैः लौट रहा है।

उसके पीछे वह सारा दृश्य धीरे-धीरे अंधेरे में विलीन हो जाता है।

नर्स डिसूजा की ड्यूटी खत्म हो गई थी। शाम को जब उषा लौटी तो वह सामने मिली।

"हलो नर्स। ऑफ ड्यूटी?"

"यस!" सारी नर्सों को चाहिए कि वे यूं मुस्कराकर जवाब दें।

"मां ठीक है न?"

"एकदम। तुमारा भाभी अच्छा लुक-आफ्टर करता।"

"वाह! और मैं?"

"तुम बी। आफ्टर ऑल, युवर मदर।'

"और भाभी की सास!"

दोनों हंसने लगीं।

"और बाजू के बैड पर मालती की सास? वह कैसी हैं?"

नर्स डिसूजा ने कंधे झटक दिए, "वैसाच है। नॉट वेरी गुड।"

उषा अपने आप को रोक न सकी।

"मालती को तुम जानती हो? पहले यहां आ चुकी है? फॉर डिलीवरी?"

"नो। फॉर एम.टी.पी.। दो बार। डाक्टर मना किया। और नई करने का....", उसने विदा में हाथ हिलाया, "और सब छिपा के। घर में किसी कू मालूम भी नई। भाई, बच्चा निकलवा दिया, चली गई। दीज गर्ल्स.....!" नर्स डिसूजा चली गई।

एम.टी.पी.? यानी मेडिकल टर्मिनेशन ऑफ प्रेग्नेंसी? शरीर में पल रहे जीव को मिटा देना? उषा का कुंवारा मन कांप उठा। मालती को कोई बीमारी तो नहीं होगी? पर ऐसा होता, तो डिसूजा बताती। उसकी आवाज में आलोचना थी, अफसोस नहीं।

मिस्टर वैद्य ऊपरी गैलरी में चहलकदमी कर रहे थे। रोगिणी के चार्ट पर का नाम उषा ने सुबह पढ़ लिया था। उसने नमस्कार किया।

"अब कैसी हैं माताजी?"

चौंककर उन्होंने उषा की तरफ देखा। फिर हकलाकर बोले, "वैसी ही हैं।"

उषा अंदर आ गई।

"सॉरी, भाभी। देर हो गई।"

भाभी चली गई। मिस्टर वैद्य बड़ी बैचेनी से पत्नी का इंतजार कर रहे थे।

थोड़ी देर बाद मालती आ गई। उसके हाथ में गजरे की पुड़िया थी। उषा की तरफ बढ़ाकर बोली, "लो!"

"ओह। थैंक्यू!" उषा ने देखा, मालती के घुंघराले बालों में भी एक गजरा कसकर बंधा था।

मालती बोली, "डाल लो।" फिर जोड़ा, "यहां सुगंध अच्छी लगती है।"

उषा ने गजरा लगा लिया। बेला के फूलों की महक ने उसके आसपास खुशबू का घेरा बना दिया।....

रात को दोनों ने साथ खाया। फिल्मों, फिल्मी कहानियों पर बातें कीं। एक्टरों के जीवन के किस्से मजे ले-लेकर एक-दूसरे को बयान किए।

"पिक्चर देखने का शौक है?"

कुछ चुप रहकर मालती बोली, "देखती कम हूं, सहेलियों से सुनती ज्यादा हूं।" दोनों के बीच एक और धागा वहीं जुड़ गया।

सुबह की चाय लेकर नीचे का होटल वाला छोकरा खड़ा था। उषा ने बाजू में नजर डाली। परदे खिंचे हुए थे। उसने मालती को आवाज दी। परदा सरकाकर वह बाहर आई। उसकी आंखें फूली हुई थीं। अस्पताल में सोने को कहां मिलता है?

"चाय पी लो। नींद भाग जाएगी।"

मालती ने कप लिया और खड़ी होकर चाय पीने लगी। यकायक उसने कप नीचे रखा। उसे उबकाई आ रही थी। उषा ने उसकी पीठ पर हाथ रखा। वह उबकाइयों के मारे दुहरी हो गई। उषा की समझ में नहीं आया। मालती मुंह पर हाथ दबा, बाथरूम की तरफ भागी।

चौंककर उषा ने मां को देखा। फिर चाय के कप को।

चाय में कुछ था?

मां ने कहा, "पी लो। चाय में कोई खराबी नहीं है। उसे....", और उन्होंने अपने पेट पर हाथ रखकर उषा की तरफ मुस्कराकर देखा।

ओह!

उषा स्टूल पर बैठ गई।

यानी.....यानी.....मालती क्या इस बार भी....?

उसने कप नीचे रख दिया..... लेकिन डाक्टर ने मना किया है न।

मालती मुंह धोकर आ गई।

मां ने पूछा, "कौन-सा महीना है?"

पहले तो मालती हतप्रभ हो गई। फिर संयत होकर बोली, "तीसरा।"

"भगवान बेटा दे।" मां ने आशीर्वाद दिया।

एक म्लान हंसी मालती के चेहरे को ढक गई। उसने परदों की तरफ देखा। कुछ थमी। उषा ने पूछा, "और चाय मंगवा दूं?"

सिर हिलाकर वह परदा खोल, अंदर चली गई।

सुबह का समय वैसे भी मसरूफियत का होता है। मालती जाने कब घर के लिए निकल गई। भाभी आई, तब उषा ने देखा कि मिस्टर वैद्य बाहर चहलकदमी कर रहे थे।

चर्चगेट का रेल प्लेटफार्म। जरा बचकर चलें। बहुत भीड़ है। इस भीड़ में कोई किसी को कैसे खोज सकता है, यही सोच रहे हैं न आप? जरा रुकिए। देखिए! वहां, जहां बहुत-सी महिलाएं खड़ी हैं, वहीं पर हैं वे दोनों। एक—जो बेहद थकी-हारी, पसीने से बेजार खड़ी है, वही तो है हमारी मालू। और वह जिससे बतिया रही है, वह नीता है जिसे हम पहले देख चुके हैं।

आइए, हम उनसे सटकर खड़े हो जाते हैं। इतनी भीड़ में क्या पता चलेगा कि पास कौन खड़ा है। नीता कह रही है, ".....तभी मुझे लगा था कि कोई बात है जरूर। पर तूने कभी कुछ बताया ही नहीं।"

"क्या बताती? अपनी शर्म की कहानी?" मालू की आवाज रुंआसी है।

नीता ने मालू के कंधे पर हाथ रखा।

"तेरी शर्म! क्यों? तूने क्या किया है? जिन्होंने किया है, शर्म तो उन्हें आनी चाहिए।"

मालू ने दो-तीन बार गर्दन हिला दी। गोया, जो घटा है, उसे स्मृति से पोंछ दे।

नीता ने कहा, "चल! चाय-वाय पीते हैं। यहां इस भीड़ में तो...."

उसने मालू का हाथ पकड़ा और दोनों भीड़ में से बचती-बचाती, कुहनियों से औरों को ठेलती, बाहर निकलने लगीं। चलिए। हम भी इनकी बनाई लीक पर, इनके पीछे निकल जाएं।

वे दोनों स्टेशन के पास वाले रेस्तरां में घुस रही हैं। कदम बढ़ाइए, वर्ना उनके और हमारे बीच का फासला बढ़ जाएगा, और अन्य लोग बीच में आ धमकेंगे।

आप सोचते होंगे – नई ब्याहता मालू को क्या परेशानी होगी? नई ब्याहता ही तो है। आपने गौर नहीं किया? उसके गले में जो मंगलसूत्र है, उसकी कटोरियां उल्टी हैं। यानी शादी को अभी साल-भर नहीं हुआ है। साल-भर के बाद मंगलसूत्र की कटोरियां पलट दी जाएंगी।

लीजिए! उन दोनों ने मुश्किल से एक कोना ढूंढकर अभी-अभी खाली हुई मेज पर आसन जमा लिया है। चाय का आर्डर दिया जा चुका है। अब नीता मालू को गौर से देख रही है।

"अब बता। क्या हुआ?"

"पहले कुछ पता नहीं चला। शादी हो गई। भाई-भाभी ने छुटकारे की सांस ली। और मैं ससुराल आ गई। पहली रात को...."

नीता सांस रोके सुन रही थी, "क्या हुआ उस रात को?"

बेयरा चाय के कप रखने आया। मालू चुप रही।

जब बेयरा चला गया तो उसने कहा, "नीता! उन लोगों को सिर्फ एक शरीर की जरूरत थी? बस! जो उनके दुलारे बेटे के तन-मन का तनाव कम कर सके।"

"वे लोग, माने?"

"मेरी पूज्य सासू मां...!" कड़वाहट भरे शब्द।

"पर हुआ क्या?"

"उस रात.....उन्होंने कहा...."

सासू मां द्वारा कही गई बात क्यों न हम स्वयं सासू मां की जुबानी सुनें?

वही संकरा जीना, वही गली, वही घर। लेकिन अब अंदर चलें, रसोईघर में।

बदरंग मटमैली दीवारें। आलों पर धरे पीतल के बर्तन की चमक से और भी मैली दीख रही हैं।

सिकुड़ी, सिमटी मालू पटरे पर बैठी है। चौके में सासू मां कलछुल लिए भाजी हिला रही है, और अपनी बात को ज्यादा असरदार बनाने के लिए बहू के चेहरे के ऐन सामने कलछुल हिलाने से भी नहीं चूकती है।

वह कह रही है, "सुन लो। हम दो जने हैं। मैं और मेरा बेटा। और हम दो ही रहेंगे। समझी? किसी तीसरे को हमारी जिंदगी में दखल देने की जरूरत नहीं है। इसलिए अपनी सीमा में रहना।"

"खाना मैं बनाऊंगी। मेरे हाथ का खाना ही उसे पसंद है। तुम्हें रसोई में लुड़बुड़ करने की जरूरत नहीं।"

दुल्हन के वेष में मालू और भी सिमट जाती है।

"तुम्हें लाया गया है, उदय के शरीर धर्म को निभाने के लिए। बस! यही काम है तुम्हारा। सेवा-टहल की मुझे कोई जरूरत नहीं है। और हां। त्रिया-चरित्र दिखाकर मेरे लड़के को फुसलाने की कोशिश भी मत करना। हाथ में कुछ आने का नहीं है।" यहां बतौर आगाही, कलछुल नचाकर बात साफ कर दी गई।

मालू का चेहरा घुटनों के बीच में छिप गया।

आइए, अब हम उस रेस्तरां में लौट चलें। वहां, उस कोने की मेज पर, जहां मालू अपनी शर्म उघाड़कर, सिर झुकाए बैठी है।

नीता ने हमदर्दी से उसकी तरफ देखा। "मालू....!"

"मालू नहीं। एक शरीर। उन्होंने मुझे सिर्फ शरीर बना डाला।" एक आर्त पुकार।

"जानती हो, नीता, मैं वहां कहां रहती हूं! एक कुर्सी पर। हां! चौंकती क्यों हो, कुर्सी पर, जो घर के बाहर, चाली में रखी गई है। ताकि मेरी छीछालेदर सारी चाली देख ले....."

"ओह!"

"हां। सुबह उठकर मैं उस पर बैठ जाती हूं। बाहर नल पर नहा लेती हूं, फिर आफिस आ जाती हूं। शाम को जब तक सब निबट नहीं जाता, बाहर बैठी रहती हूं। वे दोनों खा चुकते हैं, तब मुझे बुलाकर खिला दिया जाता है। ताकि उनके बेटे की सेवा के लिए मैं प्रस्तुत हो सकूं।"

"उफ! ऐसा लेकिन कब तक....!"

"क्या करूं! मायके लौट नहीं सकती। भाई-भाभी मुझे घर में नहीं रखेंगे। अकेली रह नहीं सकती। कहां रहूं? मेरा सारा जीवन अब उस कुर्सी पर ही बीत जाएगा।"

"तेरी नौकरी को लेकर कुछ....."

तमतमाई आंखें उठाकर मालू ने नीता को घूरा, "नौकरी से क्यों ऐतराज होगा? ठनाठन रुपए जो पहली तारीख को वसूल कर लिए जाते हैं। वेश्या भी वही करती है, जो मैं करती हूं। पर वह

बदले में पैसे पाती है। मुझसे तो वह भी छीन लिए जाते हैं।"

"तेरा मिस्टर कुछ नहीं बोलता?"

अत्यंत हिकारत से मालू ने कहा, "उसी का बेटा है। मां के साथ सो नहीं सकता, इसलिए मुझे ले आया है। वह क्या बोलेगा?"

नीता ने मालू का हाथ पकड़ लिया।

मालू की आंखों में आंसू जमा हो गए।

"तू ही बता, नीता, मैं क्या करूं? क्या करूं?"

तभी बेयरे ने विन पी हुई चाय का बिल लाकर रखा। मालू ने अपना चेहरा घुमा लिया।

उन्हें उठाने के लिए यह इशारा काफी था।

दोनों उठ गईं।

चलिए! हम भी चलते हैं.....

शाम को जब उषा अस्पताल पहुंची, तो पास वाले बिस्तर के आसपास कुछ महिलाएं खड़ी थीं। भाभी ने बताया कि उन लोगों की पड़ोसिनें हैं, खबर पूछने आई हैं। चूंकि परदे अभी तक खिंचे हुए थे, और भाभी ने उन्हें बताया था कि सेहत नाजुक है, वे लोग कुछ बेचैनी से वहीं मंडरा रही थीं। बाहर भाईसाहब भी नहीं दिखाई दे रहे थे।

"आप लोग बैठिए। मालती आती होगी। शायद भाईसाहब किसी काम से नीचे गए होंगे।" उषा ने अपना स्टूल दिया। एकाध ने मां के बिस्तर पर स्थान पा लिया, बाकी खड़ी रहीं।

भाभी चली गईं।

"अभी वैद्य काकू को होश नहीं आया?" एक ने पूछा।

"नहीं। आक्सीजन पर हैं।" उषा ने कहा।

उन्होंने सामूहिक रूप से 'च्-च्' कर दिलसोजी जाहिर की।

दूसरी बोली, "मुझे तो उस रात ही लगा था कि तबियत ज्यादा खराब है। दिन-भर सिर दुख रहा था। कितना कहा कि डाक्टर को दिखा दो। पर वैद्य काकू हमारी बड़ी हठी हैं।" गोया यह उनकी तारीफ थी।

"रात को जब खून की उल्टी हुई, तब मालती जाकर डाक्टर को ले आई। नुक्कड़ पर ही है दवाखाना....."

"हां नहीं तो। उदय तो बेचारा एकदम डर गया था।"

"मां का लाडला है न।" यह आलोचना थी या उलाहना, उषा समझ न सकी।

"फिर मालती ने ही एंबुलेंस मंगवाई, और यहां ले आई।"

"चलो, इतना ही सही, सेवा तो पाई वैद्य काकू ने।" एक ने यूं कहा, मानो वैद्य काकू मर ही गई हों।

"हां। वर्ना...", दूसरी ने आगे कहना चाहा, पर तभी मिस्टर वैद्य दिखाई दिए। उषा ने कहा, "लीजिए। भाईसाहब आ गए।"

सभी महिलाएं दरवाजे की तरफ बढ़ीं।

उन्हें देखकर भाईसाहब के चेहरे पर खिन्नता छा गई।

दोनों तरफ से बातें होने लगीं। उषा कुछ देर तक गैलरी में चल रहे इस मूक नाटक को देखती रही, फिर पत्रिका उठाकर पढ़ने लगी।

उस शाम मालती काफी देर से लौटी। वैद्य साहब चहलकदमी कर शायद थक गए थे। रोगियों के खाने का समय भी बीत चुका था। मां ने कहा भी, "तू जाकर खा आ।" पर उषा, मालती का इंतजार कर रही थी। एक बार साथ खाने के बाद अब अकेले खाने का उसका मन नहीं कर रहा था।

मालती आई। कुछ हड़बड़ाहट में थी। उषा ने मजाक किया, "बेचारे भाईसाहब को कितना इंतजार करवाया!"

मालती ने मुंह बनाया, "डाक्टर आ गए?"

"अभी नहीं। आते होंगे। इतनी देर क्यों हुई?" नई मित्रता के अधिकार से उसने पूछ लिया।

"तुम्हारे लिए बढ़िया चीज लाई हूं खाने की।" मालती ने हाथ के पुलिंदे को दिखाया।

"क्या है?" उषा ने फुसफुसाकर पूछा।

पलकें झपकाकर मालती ने उसे चुप कराया। तभी डाक्टरों की फौज आ धमकी।

आज परदे के पीछे काफी देर तक चर्चा होती रही। एकाध बार नर्स बाहर निकली, कुछ सामान लेकर लौटी। पूरे वार्ड की नजरें परदे के पीछे के रहस्य को जानने को उत्सुक थीं। सभी के दिलों की गति तेज हो गई थी। 'मर गई बुढ़िया!' मृत्यु को इतनी नजदीक से देखना, जब वह अपनी न हो, इतना रोमांचकारी क्यों होता है?

डाक्टर निकले। कर्तव्यपूर्ति हो चुकी थी। मालती बाहर आई। सावधानी से परदे यथास्थान किए। फिर उषा की तरफ देखकर बोली, "आज खाने के लिए बाहर जाना न हो सकेगा। आओ, गैलरी में बैठकर खा लेते हैं।" उसने पुलिंदा उठाया।

दोनों बाहर जा बैठीं।

"डाक्टर ने क्या कहा? ज्यादा सीरियस है क्या?" उषा की आवाज सहानुभूति में नम थी।

"हां! अब अंदर के अंगों में हरकत नहीं रही। आज की रात शायद ही निकालें।" स्वाभाविकता से वह बोली।

उषा की समझ में न आया कि वह क्या कहे।

मालती आलती-पालती मारकर बेंच पर पसरकर बैठ गई। उसने पुलिंदा खोला। गर्मागर्म समोसे थे। तेल, मिर्च, खटाई, आलू की मिली-जुली सौंधी गंध से नथूने भर गए। उषा के मुंह में पानी भर आया।

"अच्छे हैं न। वह इसी समय शाम को बनाता है—ताजे। इसीलिए मुझे देर हो गई। सोचा, एक बार तुम्हें जरूर खिलाऊं।"

उषा मुस्कुराई—'मुझे नहीं। यह तुम खिला रही हो उसे, उस जीव को, जो तुम्हारी कोख में पल रहा है।' पर प्रत्यक्ष में उसने कुछ नहीं कहा।

समोसे बेहद स्वादिष्ट थे।

लेकिन हर निवाले के साथ, मालती की सास की आखिरी सांसों का ऐसा कुछ सिलसिला जुड़ गया, कि वे समोसे उषा के मुंह में सिवा चिकनाहट के, और कोई स्वाद न छोड़ पाए।

"भाईसाहब को खबर नहीं करनी है?"

"खा लेते हैं। फिर फोन कर दूंगी। पड़ौस में फोन है। आ जाएंगे।"

मालती खूब मजे लेकर, सी-सी करके खाती रही। उषा को, उसका चच्-चच् की आवाज के साथ, बड़े निवालों से यूं खाना घिन से भर गया।

"बस!" उसने कहा, "बहुत खा लिया। अब और नहीं।"

आश्चर्यचकित हो, मालती ने उसे घूरा।

"खाओ न! कितने स्वादिष्ट हैं!"

"ना, बस। अब भूख नहीं है।" उषा की आंखें बिस्तर के इर्द-गिर्द लगे परदे पर मंडरा रही थीं।

"तो लाओ। तुम्हारे हिस्से के समोसे मैं ही

खा लेती हूं।"

कौन-सी भूख समाई थी मालती के पेट में। उसने वे समोसे भी उसी तरह कचर-कचर कर खा डाले।

उषा को उबकाई आने लगी।

"मैं देख आऊं?" उससे रहा नहीं गया! बुढ़िया वाकई मर तो नहीं गई? "या नर्स को बुला लूं?"

"खा लें, फिर चलते हैं।" मालती ने चटनी में उंगली डुबोकर चटखारे से चाट ली।

उषा को लगा, इसका खाना क्या कभी खत्म नहीं होगा?

अंततः मालती खा चुकी। हाथ कागज से पोंछते हुए उसने संतोष की एक लंबी डकार ली। उषा का जी मितला गया।

बोतल मुंह से लगा, गट्-गट् पानी पीकर मालती ने रूमाल से खसखसाकर मुंह पोंछा।

"हां, चलो। अब चलते हैं।"

उषा ने पूछना चाहा—सार्वजनिक खेल हो रहा है या मनोरंजन कार्यक्रम, जो देखने जा रही हो, बहन?

वह चुपचाप पीछे हो ली।

"सुनो!" उसके नारीत्व ने उसे मजबूर कर दिया, "तुम मत देखो। ऐसी नाजुक हालत में.. ...हम नर्स को बुला लाते हैं।"

मालती की आंखों में कौतुक था, "कुछ नहीं होगा। चलो!"

इतने में नर्स डिसूजा तेजी से उनकी तरफ आती दिखाई दी। पास जाकर बोली, "तुम हसबंड को फोन करना मांगता।"

"मर गई?" उत्तेजना भरी आवाज में मालती ने पूछा।

"नहीं! बट वेरी-वेरी सीरियस!"

"तुम चलो।" मालती ने उषा की पीठ पर हाथ रखा, "मैं फोन करके आती हूं।"

"मुझे नंबर दे दो। मैं फोन करती हूं। तुम उनके पास....."

"नहीं!" दृढ़ स्वर में वह बोली, "कुछ नहीं हुआ जाता।" फिर हंस दी, "तुम अभी बच्ची हो। जाओ।"

मालती नीचे चली गई।

डिसूजा ने उषा की ओर देखा। उसकी आंखों में हिकारत थी! "उदर सास मरता—इधर इसकू भूख लगता। नो फीलिंग्स एट ऑल, ब्लडी बिच।"

उषा संकोच से गड़ गई। मालती औरत है या हैवान? उसने सोचा। और सहमी हुई मां के बिस्तर पर दुबककर बैठ गई।

मालती लौट आई। परदे को सरकाकर अंदर झांका। फिर बाहर आकर स्टूल पर बैठ गई। उषा ने कनखियों से देखा। मालती निश्चल बैठी थी, गोया सुस्ता रही हो।

मां ने पूछा, "क्या....?"

मालती ने सिर हिलाया, "अभी नहीं।"

पूरे वार्ड ने रोकी हुई सांस खींची।

थोड़ी देर बाद मिस्टर वैद्य आए। उनके चेहरे पर डर और घिघियाहट साफ लिखी थी। उन्होंने मालती की तरफ देखा। मालती ने सिर उठाकर भरपूर नजरों से पति को निहारा। फिर खड़ी हुई। नर्स डिसूजा आई। सब मिलकर परदों के पीछे गए।

उषा मां की गोद में सर छिपाकर बैठी रही। मां का हाथ उसकी पीठ सहलाता रहा।

यकायक पुरुष-स्वर का रुदन सुनाई दिया।

सारा वार्ड सकते में आ गया।

नर्स डिसूजा ने पति-पत्नी को बाहर निकाला।

तब तक उनकी चाली के कुछ पुरुष आ पहुंचे थे।

मिस्टर वैद्य की आंखों से लगातार पानी बह रहा था। वह बार-बार नाक सुड़क रहे थे। मालती अपने में खोई पास खड़ी थी—गुड़िया की तरह।

एक पड़ोसी ने सिर हिलाते हुए कहा, "एकाध पोता गोद खिला लेती, तो मौत सुधर जाती बेचारी की।"

मिस्टर वैद्य ने रूमाल निकालकर जोर से नाक साफ की।

मालती का हाथ अनायास अपने पेट पर चला गया। नजरें कहीं दूर टिकी थीं। धीरे-धीरे एक उजियारा उसके चेहरे पर फैलने लगा। होठ मुस्कान में विलग हो गए।

नर्स डिसूजा ने पड़ोसी से कहा, "फार्म भरने को मांगता। थोड़ा देर बाद बॉडी मिलगा। निचेकु रुको।"

सभी चलने लगे। एक ने सांत्वनावश मिस्टर वैद्य की बांह थाम ली।

उनके जाने के बाद मालती ने आकर उषा के कंधे पर हाथ रखा।

उषा ने घृणा से कंधा सिकोड़ लिया।

मालू अपने में ही खोई हुई थी। वह भी चली गई।

पलंग, चुपके से, मय परदों के, हटा लिया गया।

मृत्यु की परछाईं वार्ड पर से धीरे-धीरे दूर हुई।

भयभीत बीमारों ने नींद की शरण ली।

वार्ड पूर्ववत खामोशी में डूब गया। उषा की धीमी सिसकियां सिर्फ मां ने सुनीं !.... ❑

संस्कृत साहित्य की औपन्यासिक परंपरा

पृष्ठ 24 से आगे

कतिपय पाश्चात्य और परंपरया कुछ प्राच्य समालोचकों ने संस्कृत उपन्यासों *(कादम्बरी, दशकुमार चरित, वासवदत्ता* आदि प्रचलित उपन्यास) पर यह आक्षेप लगाया है कि इनकी भाषा दुरूह है जो रसानुभूति में बाधक है। यहां यह ध्यातव्य है कि संस्कृत आदिम भारोपीय भाषाओं तथा एशियाई व सेमेटिक परिवार की भाषाओं में आती है जो संश्लेषणात्मक प्रवृत्ति की रही है जिसमें शब्दों को एक-दूसरे से जोड़कर नए शब्द बनते हैं जैसे ग्रीक, हिब्रू, चीनी आदि। अतः संस्कृत लेखकों पर ऐसा आक्षेप अनुचित है। हां, कहीं-कहीं जरूर भाषाई कलाबाजी निंदनीय है। इसे तो *ध्वनि सिद्धांत* में चित्रकाव्य कहकर अधमकाव्य की श्रेणी में रखा गया है। संस्कृत उपन्यासों के रसास्वादन के लिए सूक्ष्म भाषा ज्ञान आवश्यक है अन्यथा उसका अनुवाद ही श्रेयस्कर है। बिना अध्ययन के क्या कोई (सामान्य हिंदी पाठक) जयशंकर प्रसाद या प्रेमचंद के उपन्यासों के गूढ़ रहस्य समझ पाएगा? और अंततः मैं उन सभी आधुनिक लेखकों का आभारी हूं जिनके कार्यों का प्रस्तुत लेख में नाम के साथ अथवा बिना नामोल्लेख के मैंने प्रयोग किया है। ❑

दो कविताएं : सुरजीत पातर

नए देवता

घायल अहं वाले हारे हुए आदमी
तपते मन वाले मेरे जैसे दोस्त

लगता है कि रूह बहुत संतप्त है
शाम है और दिल में बड़ी उदासी है
शोकग्रस्त हिंदसे पर मन की घड़ी रुकी है

आज जैसी बुरी शाम जब भी आए
जब भी कभी पराजयों का अहसास घेरे
जब अपना अस्तित्व ही नमोशी बन जाए

और अपने जालीपन, अपने खोट का कमीना ख्याल
बहुत सताए
तो किसी देवता की आराधना करो

मोरपंखों पर बैठी सरस्वती नहीं
गंगा लहरी जटाजूट शिव नहीं
शिव के नंदी पर सवार पार्वती नहीं
सात गायों को हांकती उषा भी नहीं
किसी कोख से उगता कंवल भी नहीं
और न ही कंवल पर सुशोभित उमा

ये नहीं मेरे हमहाल, हर्गिज नहीं
उस तरह का कोई देवता
हमारे जैसे दिलों के काम का नहीं
हमारे अपने अलग व नए दुख हैं
हमारे अपने अलग व नए देवता

पराजय किसी और की
शामत किसी और की
या किसी जाने-माने हुनरमंद की बेअदबी
या किसी महानायक का अपमान
उसके अहं से रिसता लहू
ये हैं अपने नए देवता

आराधना इनकी अगर करो तो फिर जी उठो
संतप्त मन पर गिरें बूंदें
सुलगती रूह को मिले शांति
घायल अहं पर मरहम लगे
बुझते दिल को रोशनी मिले

हमारे अपने अलग व नए दुख हैं
हमारे अपने नए देवता

मोरपंखों पर बैठी सरस्वती नहीं
गंगा लहरी जटाजूट शिव नहीं
सातों गायों को हांकती उषा भी नहीं
किसी कोख से आता कंवल भी नहीं
और न कंवल पर सुशोभित उमा।

अकाल

यहां पानी नहीं, पानी का गीत है
नदी नहीं, नदी की आवाज का रिकार्ड है
यहां बरसात नहीं, बरसात का शोर
दिन रात रेडियो से नश्र होता है

यह जो सूखे या सूख रहे दरख्तों का
धीरे-धीरे चल रहा झुंड है
यह एक या दूसरे अकाल के हक में वोट डालने जा रहे
मेरे देश के लोग हैं

इनकी शाखों पर एक-एक आखिरी पत्ता
पत्ता नहीं, वोट है
और यह जो गहर-सा है
यह बादल नहीं
वोट मांगती जीपों की उड़ाई धूल है

ये दीवारों में उगे गुलाब नहीं
बेलें बेलें नहीं
नेताओं के चुनाव चिह्न हैं

और यह जो कुछ मैंने कहा है
यह कविता नहीं
प्यासे सपनों की वड़वड़ाहट है।

पंजाबी से अनुवाद : **चमन लाल**

दो कविताएं : कुंदन शर्मा

आज का महाभारत

आज के महाभारत में
कोई जय या पराजय नहीं है
यह अपने आप के साथ युद्ध की कहानी
यह आदमी के नए अंतर्द्वंद्व की व्यथा।
मन और संसार के कुरुक्षेत्र में लड़ने के लिए खड़े हैं हम
कितना हारकर कुछ जीतने के लिए चले हैं हम
किस दोराहे पर खड़ी हूं मैं?
न अतीत को याद करने का मन है
न भविष्य की प्रतीक्षा करूं—ऐसा लगता है
न वर्तमान ही अच्छा लगता है।
मन क्यों इस तरह एकदम उचट गया मेरा?
मन क्यों इस तरह एकदम
शून्य हो गया मेरा?
सभी चीजों में मैं बचती-बचती भी
किसी बात में मैं बची जैसी नहीं हूं
सभी बातें मेरी होने पर भी
कोई बात मेरी हुई-सी नहीं लगती है।
यह कैसी अनूठी अनुभूति है मेरी!
यह कौन-सा क्षण आकर आगे खड़ा है मेरे!
क्या ऐसे समय पहले कभी
गौतम ने घर और साम्राज्य छोड़ा था?
क्या ऐसे ही किसी मन की अवस्था में
उन्होंने ज्ञान का बोध पाया था?
किंतु मैं गौतम हो नहीं सकती हूं
मेरा संसार
मेरे अंदर बचा है सदा
मैं
इस संसार में ही सिर्फ बच सकती हूं सदा
मैं अर्जुन की तरह फिर
इस कर्मभूमि में जूझने लिए लौटती हूं
मेरा सिद्धार्थ मन के वटवृक्ष के नीचे
ध्यान में लीन होना चाहता है फिर
यह संघर्ष मेरा
गौतम और अर्जुन के बीच
मन के ज्ञानबोध और
अस्तित्व के कर्म-धर्म के बीच
अब हारेगा कौन यहां?
और जीतेगा कौन किसे अब?
हम अपने को जीतना चाहते हैं सदैव
हम अपनों से हारे हैं सदैव।
खुद खुद को जीतने पर
अपने से हारना कहां संभव होता है और
खुद खुद से हारने पर
खुद को जीतना फिर कहां संभव होता है!
सभी बातें यहां
सिर्फ हमारा दृष्टिकोण हैं शायद
सभी बातें यहां
सिर्फ हमारे सोचने के
अंतर और अंतर्द्वंद्व मात्र हैं शायद।
आज के महाभारत का
कोई अंत भी नहीं है अब।

जीवन

कभी नहीं लौटने वाले दिनों को,
लौटकर बुलाने का मन करता है
जितना जिया यह जीवन
फिर जनमकर जीने को मन करता है।
देखते-देखते धूप अस्त हो गई
उस चोटी पर
लेकिन क्यों मेरी इच्छाएं नहीं मुर्झाईं?
तो भी सपनों का बीज फैला हुआ है
इस मन में
आज भी फूल ही फूल फूले हैं
इस मन में
कितने रास्तों पर चली—मालूम नहीं
किंतु क्यों यह यात्रा
जल्दी ही खत्म हो गई—ऐसा लगा?
प्रत्येक पल जीते-जीते भी
प्रत्येक पल हाथ से गुम हो गया—ऐसा लगा।
यह कैसी प्यास?
यहां प्यास मिटी नहीं
यह कैसी खोज?
यहां खोजी कोई चीज मिली नहीं!
तो भी अतृप्त वासना होकर
जीवन ने मुझे खदेड़ा है
यदि इस मरने के क्रम को ठग सकी
मैं हमेशा यह जीवन जीना चाहती हूं।

नेपाली से अनुवाद : **रामदयाल राकेश**

चिंतन

पश्चिम का 'पूरबवाद'

पश्चिम में पूर्व के देशों की कला, संस्कृति और चिंतन के अध्ययन की परंपरा एक पूरे शास्त्र के रूप में स्थापित है। परंतु क्या यह शास्त्र मात्र 'पूरब' को समझने और जानने के लिए है या पश्चिम की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं और जरूरतों को पूरा करता रहा है? एडवर्ड सैद और एजाज अहमद की पिछले दिनों प्रकाशित पुस्तकों का विवेचन कर रहे हैं **आनंद प्रकाश**

दुनिया दो भागों में बांटी जा सकती है : पश्चिमी दुनिया और पूर्वी दुनिया। पश्चिमी दुनिया हमारी है, वह दुनिया है जिसमें हम रहते हैं, और पूर्वी दुनिया हमसे दूर स्थित वह दुनिया है जिसमें दूसरे, हमसे बिल्कुल अलग किस्म के लोग रहते हैं। बल्कि यह कहना ज्यादा सही होगा कि पश्चिमी दुनिया हम हैं और पूर्वी दुनिया में वे लोग हैं जो हम नहीं हैं, जो पूरी तरह से दूसरी किस्म के प्राणी हैं। कौन जाने वे मनुष्य भी हैं या नहीं!

इस राय को बनने में वक्त लगा है और इसके पीछे कितनी ही महत्वपूर्ण चीजों का हाथ रहा है। फिलहाल, हम गौर करें कि 'पूर्वी दुनिया' जैसी चीज वास्तव में है या नहीं। पूर्वी दुनिया में जन्मे और पश्चिमी दुनिया में पले-बढ़े तथा स्थापित महत्वपूर्ण विचारक एडवर्ड सैद कहते हैं कि इस तरह की 'पूर्वी दुनिया' जैसी कोई चीज वास्तव में नहीं है। उनकी राय में यह पश्चिमी चिंतन की एक वैचारिक निर्मिति है। इस निर्मिति को वह 'पूरववाद' कहकर पुकारते हैं जिसे पश्चिम में रहने वाले लोगों ने अपनी सहूलियत के लिए, अपने आग्रहों को व्यक्त करने के लिए गढ़ा है।

पश्चिम वाला कहना बात करने का आमफहम तरीका है। इसे गंभीरता से अवधारणा के अर्थ में कहते तो एडवर्ड सैद वही गलती करते जिसके लिए वह तथाकथित पश्चिमी चिंतन की आलोचना कर रहे थे। लेकिन ऐसा नहीं है। इसके विपरीत सैद का तात्पर्य साम्राज्यवाद से है। यह आज के सामान्य ज्ञान का हिस्सा है कि साम्राज्य का, साम्राज्यवादी वृत्त का एक सामाजिक-शासनिक केंद्र होता है। इस केंद्र से साम्राज्यवाद का पूरा क्रिया-कलाप प्रचालित एवं संपन्न होता है। वहां शोषण के परिणामस्वरूप इकट्ठा होने वाला उत्पादन-धन इसलिए पहुंचता है कि उससे भविष्य में उपनिवेशों का और अधिक शोषण किया जा सके। साथ ही, दूसरी तरफ केंद्र से अलग और दूर वे देश तथा समाज होते हैं जो वृत्त के बाहरी कोनों में पड़े होते हैं और जिन्हें हिकारत से सीमांत (पेरिफरी) कहा जाता है। केंद्र द्वारा बाकी देशों को सीमांत कहना तथा उनका शोषण करने के लिए उन्हें छोटा, जाहिल, कमजोर और अविकसित मानना ही सैद की राय में पूरववाद का मूल है।

सैद वामपंथी विचारक हैं और ऐसे समय अपनी व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं जब पश्चिमी विश्वविद्यालयों तथा अन्य अध्ययन-केंद्रों में मुख्य रूप से सिद्धांत पर चर्चा हो रही है। पूरबवाद कहकर वह उस नजरिए पर फोकस करते हैं जो पश्चिमी साम्राज्यवाद के व्यवहार को अनुशासित करता है। इस अवधारणा की मदद से सैद साम्राज्यवादी चिंतन की तथाकथित वस्तुपरकता एवं वैज्ञानिकता का पर्दाफाश करने में सफल होते हैं। उनकी राय में न तो पूर्वी देश या सीमांत के दूसरे देश और समाज अपनी मूल प्रकृति में जाहिल, कमजोर और अविकसित हैं और न ही उनमें कोई रहस्यमयता एवं अस्वाभाविकता या अनोखापन है। अर्थात वह जादू-टोनों, अंधविश्वासों और ढकोसलों की दुनिया नहीं है, और यदि कहीं, किन्हीं टुकड़ों में है तो उतनी ही जितनी कि अतीत में समूची दुनिया रही है, और कि उसकी विकासहीनता, उसके पिछड़ेपन का कारण साम्राज्यवादी दुनिया, साम्राज्यवादी केंद्र का विकास, उसकी प्रगति ही है।

सैद का पूरववाद मुख्य रूप से राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस्तेमाल होने वाली अवधारणा है। इसका एक असर यह हुआ है कि साम्राज्यवाद का समर्थन करने वाले विचारक अपनी स्थापनाओं के संदर्भ में अब वस्तुपरकता अथवा वैज्ञानिकता का दावा करने में हिचकते हैं। इसके साथ ही पूर्वी दुनिया को कम-अज-कम पश्चिमी अध्ययन केंद्रों में तथा उनके आसपास सक्रिय चिंतकों-दार्शनिकों द्वारा उक्त विवेकहीन आग्रहों के अधीन नहीं समझा जाता। यही नहीं, सैद के लेखन से सबक लेकर अनेक पश्चिमी विचारकों ने अपनी सोच में उपयुक्त परिवर्तन भी किए हैं।

अपनी पुस्तक *ओरिएंटलिज्म* (पूरबवाद) में सैद कहते हैं कि मानवीय सचाई निस्संदेह एक विभाजित सचाई है। लेकिन साथ ही वह पूछते हैं कि क्या वास्तव में उसे अलग-अलग संस्कृतियों, इतिहासों, परंपराओं, समाजों, यहां तक कि कौमों में बांटकर देखा जा सकता है, विशेषतः उस हालत में जब इस विभाजन के साथ मानवता के अस्तित्व का सवाल जुड़ा हो, जब इस विभाजन से मानवता के अस्तित्व को खतरा पैदा होता हो? अपना अभिप्राय स्पष्ट करते हुए वह आगे पूछते हैं कि क्या यह संभव है कि हम विभाजन करें, पश्चिमी लोगों को 'हम' कहें और पूर्वी लोगों को 'दूसरा' कहें, तथा यह करके इस विभाजन के घातक परिणामों से बच जाएं?

यह एक नैतिक प्रश्न है। यह उन लोगों की समझ से बाहर है जो शुद्ध वस्तुपरकता, शुद्ध वस्तुवाद की दुहाई देते हैं। मसलन, साम्राज्यवादी बुर्जुआ दिमाग मानवता की अवधारणा स्वीकार न करके धन की, लाभ की अवधारणा मानता है, इस बात का कायल है कि जहां पैसा मिलता है वही स्थान, वही चीज सही एवं ग्राह्य है। बल्कि इससे भी आगे वह लाभ को, धन को अपनी नैतिकता बनाता है और इसके सहारे अपना दृष्टिकोण, अपना व्यवहार, अपनी फिलासफी तय करता है। अर्थात, मानवता के विभाजन से लाभ मिले, धन की प्राप्ति हो तो विभाजन सही और इसलिए स्वीकार्य है। इस अर्थ में साम्राज्यवादी बुर्जुआ चिंतन की यह शुद्ध वस्तुपरकता असल में शुद्ध लाभ का सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक रूपांतरण एवं प्रतिफलन है। सवाल को

नैतिकता के संदर्भ में प्रस्तुत करके सैद यह आसानी से स्पष्ट कर देते हैं कि पश्चिमी साम्राज्यवादी नैतिकता या तो सामान्य अर्थ में नैतिकता है ही नहीं, या फिर एक निहायत संकुचित एवं आत्मसमर्थक नैतिकता है, जिसकी आत्मशक्ति का स्रोत धन के लिए की जाने वाली मारामारी के अतिरिक्त कुछ नहीं है। और सैद यह स्पष्ट करते हैं एक नैतिकता को दूसरी नैतिकता के सामने रखकर, पाठक के लिए उनके बीच तुलना का स्कोप पैदा करके।

यहां हम यह नहीं कह रहे कि वस्तुपरकता की अवधारणा अपने आप में गलत या सीमित है। या यह कि नैतिकता का सवाल वस्तुपरकता के सवाल से महत्वपूर्ण रूप में नहीं जुड़ा है। असल में, नैतिकता और नैतिकता में फर्क होता है। मानव समर्थक नैतिकता अत्यंत गहरे रूप में वस्तुपरकता से जुड़ी होती है। सामाजिक-ऐतिहासिक माहौल की वस्तुपरक समझ मानवता-समर्थक हितों को पुष्ट करती है। साम्राज्यवादी वस्तुपरकता का मकसद इसके बिल्कुल विपरीत है। वह धन की तरफ से, धन-लाभ के प्रसार हेतु की जाने वाली मानवता-विरोधी नैतिकता-विहीन नैतिकता है। यही झगड़ा है जिससे सैद हमारा परिचय कराते हैं।

जिस तरह सैद पूरबवाद की व्याख्या करते हैं, उसकी जड़ें पश्चिमी चिंतन-परंपरा में लगभग तब से विद्यमान हैं जब बड़े पैमाने पर इन दोनों भौगोलिक इकाइयों के बीच लेन-देन और आवागमन शुरू हुआ। लेकिन इस आवागमन और लेन-देन का एक विशेष इतिहास है। उसे हम सभी जानते हैं। दूर स्थित किसी संस्कृति या समाज की व्याख्या एक स्थान के लोग अपने ढंग से, अपने आंतरिक प्रभावों-पूर्वाग्रहों के अधीन सामान्यतः करते हैं। लेकिन पुनर्जागरण (रिनेसां) के साथ पनपने वाले व्यापारवाद का जो रूप पश्चिमी मानस में उभरा, उसमें इधर के समाजों की अजीबोगरीब छवि बनती गई। फिर भी, सैद की राय में असल तथा महत्वपूर्ण बिंदु रहा फ्रांसीसी क्रांति का वक्त।

फ्रांसीसी क्रांति के पीछे पश्चिमी देशों की व्यापक उत्पादक शक्ति एवं अनेकानेक वैचारिक-सांस्कृतिक कारकों का हाथ रहा। इनसे भी महत्वपूर्ण वस्तु थी लेखकों की ताकत। अपनी अनोखी शैली में सैद इस ताकत को इंगित करते हुए पूछते हैं कि नैपोलियन पर अपने वक्त के लेखकों का, अपने वक्त की ज्ञान परंपरा का क्या असर रहा होगा? पूर्वी देशों के बारे में समूची समझ, इन देशों की समूची जानकारी नैपोलियन को पुस्तकों से ही तो मिली होगी। अर्थात पुस्तकों में रूपाकार ग्रहण करने वाले वैचारिक दृष्टिकोण की शक्ति का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि विकसित देशों के कर्णधार एवं शीर्षस्थ विचारक पूर्वी दुनिया के बारे में अपनी समझ विकसित करने के लिए अपने वक्त की पुस्तकों पर निर्भर थे। सैद के मुताबिक पूर्वी दुनिया उस वक्त एक ऐसे जंगली शेर की मानिंद थी जिसके बारे में जानकार लोग व्यापक जन समुदाय को अपने ढंग से शिक्षित कर रहे थे। और शेर जवाब में कुछ कहता नहीं, वह सिर्फ होता है। कहां है उसके पास अधिकार और शक्ति कि अपने टिप्पणीकार की व्याख्या को दुरुस्त कर सके? असल में अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी की पश्चिमी दुनिया के पास ताकत थी, और वह ताकत लेखकों के हाथों मिथक बनाने (मिथ-मेकिंग) के प्रभावपूर्ण सामर्थ्य से जुड़ गई थी।

सैद के मुताबिक इस 'मिथक बनाने' का, इस व्यापक 'साहित्यिक' ताकत का, राजनीतिक इस्तेमाल किया जा सकता है। खतरनाक बात यह हुई कि इस राजनीतिक इस्तेमाल ने, और इस साहित्यिक रवैये ने पूरब को निम्न स्तर की वस्तु बना दिया। शाब्दिक अर्थ में भी पूरब वस्तु ही बन गया जिसका अध्ययन पश्चिम के लिए जरूरी तथा उपयोगी था। अध्ययन का विषय बनना बहुत स्पृहणीय नहीं होता।

पूरबवाद एक दृष्टिकोण, एक व्याख्या, एक डिस्कोर्स है जिससे हमारे ऐतिहासिक यथार्थ के पक्ष परिभाषित, बल्कि निर्धारित होते हैं। इसके अधीन पलने वाले पूर्वाग्रहों का जायजा लेना हो तो यह उदाहरण उपयोगी होगा कि एक अरब देशवासी की यह तस्वीर बनाई जाती है कि वह ऊंट की सवारी करता है, आतंककारी होता है, और उसकी नाक टेढ़ी होती है। वह सैक्स के मामले में भी खासा अनैतिक होता है, अनाप-शनाप तथा फालतू पैसे का इस्तेमाल करता है और वास्तविक सभ्यता के लिए खतरा बनकर घूमता है। हिंदुस्तान तो सपेरों तथा जादूगरों का देश है ही। पूरबवादी चिंतक की नजर में हम लोगों की पूर्वी दुनिया एक स्थिर तथा गतिविहीन दुनिया है—काल और देश दोनों में, और जो कुछ पूर्वी दुनिया में होता है वह अंदर से नहीं होता, बल्कि पश्चिमी देशों की घटनाओं, वहां के बदलते माहौल के प्रति एक रिस्पांस की शक्ल में होता है। इस दृष्टिकोण में पश्चिम एक सक्रिय अभिनेता है और पूरब मात्र निष्क्रिय प्रतिकारक। सच तो यह है कि पश्चिम इस पूरे खेल का दर्शक है, जज है, और जूरी भी।

फिर दिक्कत कहां है? दिक्कत है उस असमर्थता में जिसके कारण पूरबवादी चिंतक पूर्वी देशों की अनेकानेक महत्वपूर्ण समस्याओं को नहीं समझ पाता। मसलन, उसके लिए यह ग्राह्य नहीं कि अगर पूर्वी देशों में विकास नहीं हो रहा, या वहां चीजें नहीं बदल रहीं तो फिर वहां का घटनाक्रम अतीत के घटनाक्रम से अलग किस्म का कैसे है? सैद की राय में आज सिद्धांत तथा वास्तविकता के बीच का अंतराल संकट पैदा करता है, ऐसा संकट जिसमें पूरबवादी सोच निरंतर फंसता जा रहा है। इस संकट के कारण पूर्वी देशों का इतिहास, वहां की परिवर्तन-प्रक्रिया पूरबवादी सोच के लिए गहरी समस्या पैदा करने लगी है। असल में, पूर्वी देशों का इतिहास ऐसा इतिहास है, जिसमें न केवल सामान्य किस्म का विकास है, बल्कि सामाजिक एवं राजनीतिक संघर्ष हैं, जिसमें निरंतर नए ढंग का विविधतापूर्ण, संश्लिष्ट तथा समृद्ध सोच पनप रहा है, जिसमें यथार्थवादी तथा प्रामाणिक और प्रयोगधर्मी साहित्य एवं अन्य कलाएं पनप रही हैं। पूरबवादी सोच इस असल का क्या करे?

अमरीकी लोकप्रिय मानस में ही नहीं, बल्कि वहां की अकादमिक दुनिया में, वहां की योजना और उद्योग की दुनिया में जो महत्व अरब देशवासी तथा बाकी के पूर्वी नागरिक को आज मिल रहा है वह पहले कभी देखने को नहीं मिलता था। लेकिन मजे की बात यह है कि इस महत्व का कोई ताल्लुक वास्तविक तथा प्रामाणिक वैज्ञानिक चिंतन से नहीं है। अब अरब देशवासी एक खूंखार मुसलमान है जो मध्यकालीन विकासविहीनता एवं हिंसा से मुक्त नहीं हो पाया है। महत्व मिलने का अर्थ केवल यह है कि पहले जो ईमानदार पूर्वाग्रह के अधीन होता था, अब वह राजनीतिक उद्देश्य के हेतु सचेत रूप से पूरे प्रचार-तंत्र की मदद से किया जाता है। यह कल का नहीं, आज का पूरबवाद है।

सैद की चिंता यह है कि पश्चिमी और पूर्वी दुनिया के इस अंतर को आक्रामक तथा अन्यायपूर्ण इरादों के लिए इस्तेमाल किया जा रहा है। वरना, अंतर कहां नहीं होता? वह हर देश की अनुभव-परंपरा में, संस्कृति में देखने को मिल सकता है। वह अलग-अलग पश्चिमी देशों के बीच भी है, बल्कि एक देश के भीतर और यहां तक कि मनुष्य के बीच भी पाया जाता है। वह मानव प्रकृति और सामाजिक अनुभव का महत्वपूर्ण सारतत्व है। लेकिन जब अंतर को विभाजन बनाने की कोशिश नजर आती हो, जब उसका इस्तेमाल मानवता पर आक्रमण करने के लिए किया जा रहा हो तो उस तरफ हमारा ध्यान जाना लाजिमी है और उसका विरोध भी अवश्य ही होना चाहिए। सैद ने यही महत्वपूर्ण काम किया है।

इधर की एक अन्य महत्वपूर्ण पुस्तक *कल्चर एंड इंपीरियलिज्म* (संस्कृति और साम्राज्यवाद) में अपने मूल सिद्धांत को अतिरिक्त व्यापकता प्रदान करते हुए सैद कुछ सांस्कृतिक-साहित्यिक मसलों से उलझते हैं। इसमें हमारे लिए उपयोगी बात यह है कि साहित्य की एक नए ढंग की व्याख्या से हमारा परिचय होता है।

हम देखते हैं कि पूरबवाद की अवधारणा अपनाने से पश्चिमी साम्राज्यवाद का यह उद्देश्य पूरा होता है कि उसे 'सीमांत' की दुनिया को खास ढंग से समझने और उसके साथ मन मुताबिक व्यवहार करने की छूट मिल जाती है। लेकिन यह केवल सामाजिक या राजनीतिक स्तर पर नहीं होता। इस वैचारिक आग्रह की गिरफ्त में उन देशों के वे लेखक भी आ जाते हैं जो सामान्यतः श्रेष्ठ तथा उच्च मानव मूल्यों को अपनी रचनाओं में व्यक्त करते हैं। सैद यह भी पूछते हैं कि जब उपनिवेशों में साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष होने लगा तो प्रथम दुनिया की मानवतावादी विचारधारा और संस्कृतियों ने उपनिवेशों के दमित-पीड़ित लोगों के पक्ष में न्यायपूर्ण हस्तक्षेप करने से क्यों गुरेज किया, क्यों इस मानवतावाद ने बड़े सहज ढंग से साम्राज्यवाद के साथ सह-अस्तित्व स्थापित कर लिया? यहां सवाल में ही जवाब छुपा है कि वह मानवतावाद असल में केंद्र का मानवतावाद था जिसमें अपने भूगोल की, अपने देश की शोषणजनित विकृतियां मिल गई थीं।

साम्राज्यवादी विचार-संरचना में उपस्थित पूर्वाग्रहों को स्पष्ट करने के लिए सैद कुछ लेखकों अथवा रचनाओं पर विस्तार से विचार करते हैं और यह दिखलाने में सफल होते हैं कि पूरबवाद की साम्राज्यवादी अवधारणा का विशेष प्रभाव महत्वपूर्ण कृतियों में भी मिलता है। इससे भी अधिक सार्थक चीज यह है कि गहन मानवीय अर्थ से युक्त साहित्यिक कृति पूरबवाद जैसी अवधारणा को अपने अनोखे तरीके से दर्ज करती है, जिस तरीके के कारण उस कृति के मूल में स्थित मानवतावाद संदेहास्पद दिखने लगता है। इसी कारण उसकी कलागत उपस्थिति को पहचान कर हम अतिरिक्त रूप से लाभान्वित हो सकते हैं।

सैद स्वीकारते हैं कि संस्कृति तथा साहित्य में साम्राज्यवाद और सीमांत के बीच उपस्थित जुड़ाव को वैसा समर्थन नहीं मिलता जैसा आर्थिक या राजनीतिक क्षेत्र में मिलता है। ऐसा होता तो चीजों को बड़ी आसानी से समझा-समझाया जा सकता। लेकिन टेढ़ा सही, वह जुड़ाव साहित्य में भी मिलता है। उसका रूप भी वहां मूर्त एवं विशिष्ट है। इन तथाकथित क्लासिक कृतियों में ऐसा कुछ विशेष नजर नहीं आता जो साम्राज्यवाद के विरोध में खड़ा होता हो, जो दूर तक साम्राज्यवादी आग्रहों को वैचारिक-सांस्कृतिक धरातल पर चुनौती देता हो, या जो यह पहचान भी रखता हो कि साम्राज्यवादी देश का सामान्य मानस सीमांत के देशों को, वहां की जनता को, वहां की अनुभव-परंपरा को एक तरह से देखता है और अपनी जनता को, केंद्र की अनुभव-परंपरा को दूसरी तरह से, दूसरे नियमों के तहत देखता है। इसीलिए सैद इस प्रश्न पर गौर करते हैं कि केंद्र के देशों में उभरने और पनपने वाला मानवतावाद क्या उतना उच्च और महान है जितना हम उसे मानते आए हैं?

संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में पूरबवादी अवधारणा को लागू करते हुए सैद यह ध्यान रखते हैं कि फोकस रचनाकारों पर अधिक न होकर उस वक्त की वैचारिक-सांस्कृतिक संरचना पर हो। संरचना में अनेक पूर्वाग्रह बहुत गहरे स्तर पर विद्यमान होते हैं जिन्हें रचनाकार अनजाने में अपनाते हैं। ये शुद्ध अर्थ के स्तर पर न होकर भाषिक संरचनाओं में घुसे होते हैं। फिर भी, महान, युगचेता, युगद्रष्टा रचनाकार होने की शर्त यही तो है कि आप इन पूर्वाग्रहों, इन अंधताओं को देखने-समझने में सक्षम हों। उससे भी अधिक यह कि इसका दोष व्यक्ति रचनाकारों को अधिक न देकर उस वैचारिक पृष्ठभूमि को क्यों न दिया जाए जो सदा से अपनी श्रेष्ठता का डंका पीटती रही है। यह प्रश्न विशेष रूप से तीसरी दुनिया के लिए उपयोगी है क्योंकि वहां प्रायः यह माना जाता है कि पश्चिम का तर्कवाद और मानवतावाद हमारे लिए ग्रहणीय ही नहीं, प्रेरणा का भी विषय हो सकता है। सैद मानते हैं कि उक्त तर्कवाद तथा मानवतावाद को इतनी छूट नहीं देनी चाहिए। बल्कि उसकी तीखी जांच होनी चाहिए। इस तथ्य और जरूरत को रेखांकित करने के उद्देश्य से, उदाहरण के लिए, सैद विस्तृत विचार हेतु जेन आस्टिन के उपन्यास *मैंसफील्ड पार्क* को चुनते हैं।

आस्टिन उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में लिखने वाली ऐसी अंग्रेजी लेखिका हैं जिनकी सामाजिक आलोचना तथा कलात्मक श्रेष्ठता का लोहा हर अंग्रेजी आलोचक मानता है। विडंबनापूर्ण सामाजिक स्थितियों तथा मानव व्यवहार की सूक्ष्मताओं के प्रस्तुतीकरण में आस्टिन बेजोड़ हैं। सरसरी नजर से देखने पर आस्टिन की रचनाओं का सामाजिक संसार सीमित एवं हल्का लग सकता है, मगर ध्यान से पढ़ने पर मालूम होगा कि वहां अर्थ के अनेक स्तर मौजूद हैं। इससे भी आगे, सैद *मैंसफील्ड पार्क* में पूरबवाद का ऐसा प्रतिफलन दिखलाते हैं कि महसूस होता है मानो एक श्रेष्ठ लेखक अनजाने में कृति के स्तर पर किसी अत्यंत महत्वपूर्ण सामाजिक सत्य की उपस्थिति को ग्रहण कर पाने में सफल हो गया हो।

जेन आस्टिन का *मैंसफील्ड पार्क* अपनी दुनिया में जीवन की गुणवत्ता तथा स्तरीयता पहचानना और पाना चाहता है। 'गुणवत्ता की संभावना' रेमंड विलियम्स का मुहावरा है और लगभग ठीक ढंग से आस्टिन की वैचारिक सीमा को पकड़ता है—लेकिन लगभग ही, पूरी तरह नहीं। कारण, कि सैद की नजर में रेमंड विलियम्स ग्राम और नगर के बीच विद्यमान अंतःसंबंध को एक बिंदु तक ही देख पाते हैं। सैद कहते हैं कि साम्राज्यवाद ने ग्राम और नगर के जुड़ाव को, उसके आदान-प्रदान और परस्पर प्रभाव को बाद के वक्त में नए ढंग से प्रभावित किया है। आधुनिक काल में दुनिया का नक्शा इस तरह बदला है कि साम्राज्यवादी केंद्र नगर बना है और सीमांत के देश नए ग्राम बन गए हैं।

मैंसफील्ड पार्क के केंद्र में एक विशाल जायदाद है जिसके मालिक सर टामस बरट्रेम हैं। उपन्यास की पृष्ठभूमि में यह सवाल पर्याप्त स्पष्टता के साथ विद्यमान है कि इस खानदानी जायदाद में नई सार्थकता, स्फूर्ति तथा गतिशीलता कैसे पैदा हो। असल में इस सवाल पर जायदाद का अस्तित्व टिका है, यही वह चीज है जिसकी परिधि में उपन्यास के पात्रों की अर्थवत्ता एवं संगति को पहचाना जा सकता है। जायदाद में नई शक्ति का संचार ऐसे पात्र के आगमन से होता है जिसकी अतिरिक्त संवेदनशीलता एक नई मूल्य व्यवस्था को जन्म दे सकती है। अंग्रेजी उच्च वर्ग को नया बुर्जुआ परिप्रेक्ष्य चाहिए जो निम्नमध्य वर्ग परिवार की ग्रहणशील, बुद्धिमान तथा जिज्ञासु लड़की से, जायदाद के अनुशासन में संपन्न होने वाले उसके समुचित सांस्कृतिक विकास से मिल सकता है।

लेकिन यह अपने आप में काफी नहीं। कोई वर्ग मात्र अपने भीतर से, मात्र अपनी अस्मिता के अंतरण तथा परिवर्तन से नया तथा ठोस परिप्रेक्ष्य उत्पन्न नहीं कर सकता। एक चीज बाहर की दुनिया से आनी आवश्यक है। यह चीज उस औपनिवेशिक शोषण से मिलती है जो जायदाद के मालिक सर टामस के हाथों बाहर ऐंटीगुआ नामक देश में होता है। *मैंसफील्ड* का फलक इतिहास में नहीं, भूगोल में फैला है, काल से नहीं देश से संबंधित है – वहां दो बड़े सागर और चार महाद्वीप विद्यमान हैं और इस तरह विद्यमान

हैं कि गुणवत्ता एक जगह पनपती है और उसका आर्थिक आधार दूसरी जगह के शोषण से आता है। उपन्यास की नायिका फैनी प्राइस उच्च वर्ग से जुड़ी भी है और नहीं भी। पितृ सत्तात्मक परिवार को दिमाग में रखें तो फैनी मेंसफील्ड पार्क में कुछ भी नहीं है, लेकिन निम्नमध्य वर्ग या निर्धन मगर शिक्षित व्यक्ति के रूप में देखें तो केंद्रीय देश के भीतरी अंतर्विरोध पाटने में उसकी भूमिका अत्यंत अर्थवान है।

मेंसफील्ड पार्क की दुनिया की आर्थिक संपन्नता ऐंटीगुआ के शोषण से होती है, लेकिन उपन्यास ऐंटीगुआ के बारे में पाठक को बहुत कम बतलाता है। सर टामस भी सीमांत के देश ऐंटीगुआ में कभी-कभार ही जाते हैं, बहुत कम वहां ठहरते हैं और संकट न हो तो वह वहां से संबंधित पूरा कामकाज मेंसफील्ड पार्क में बैठकर ही करने में यकीन रखते हैं। ऐंटीगुआ एक ऐसी दूर-दराज जगह है जहां जाए या रहे बिना काम नहीं चलता, लेकिन जो यदि ठीक ढंग से परिचालित रहे तो मेंसफील्ड पार्क की उच्चस्तरीय, गुणवान जीवन-शैली को नित नए तरीकों से समृद्ध करती रह सकती है। सैद बतलाते हैं कि ऐंटीगुआ का दोयम दर्जा, उसकी जीवन-चर्या तथा संस्कृति के प्रति मिलने वाली हिकारत और उदासीनता इस उपन्यास में उस वक्त प्रतिफलित होती है (जिसे देखकर हैरत होती है) जब इंगलिश कानून में दास-व्यापार वैध था, जब दूर उपनिवेशों में दासों के घोर शोषण के सहारे लंबे-चौड़े गन्ने के प्लांटेशन चलाए जाते थे। संस्कृति और साम्राज्यवाद के इस अंतःसंबंध को एक क्लासिक उपन्यास नग्नता में दिखलाता है और विडंबना यह है कि पाठक का ध्यान इस संबंध से अलग 'साम्राज्यवादी नगर' के अपने भीतरी जीवन की गुणवत्ता, स्तरीयता, नैतिक मूल्यों, पारंपरिक व्यवहार की अपर्याप्तता, आदि पर केंद्रित रखा जाता है। सैद कहते हैं कि किपलिंग के *किम* नामक उपन्यास में भीतर हिंदुस्तानी जीवन-चर्या के बारे में जो अंध पूर्वाग्रह दिखलाई पड़ते हैं उनका कुछ रिश्ता *मेंसफील्ड पार्क* जैसी पहले की कृति में नजर आए तो मानना होगा कि पूरबवाद का इतिहास काफी पुराना है, और कि उसके साम्राज्यवादी आधार को खींचकर अठारहवीं शताब्दी में आसानी से ले जाया जा सकता है।

पूरबवाद की व्याख्या प्रस्तुत करने के लिए सैद पिछले तीन-चार सौ वर्षों के विश्व इतिहास का संदर्भ आवश्यक मानते हैं। उनकी राय में पहले-पहल पूरबवाद की निर्मिति अंग्रेज तथा फ्रांसीसी ताकतों द्वारा हुई। इंग्लैंड तथा फ्रांस बहुत पहले से पूर्वी देशों की संस्कृति के संपर्क में थे। उनकी वैचारिकता का यह आयाम बहुत मुखर था, कि वह दूसरी तरफ पूरब का यथार्थ है और यह इस तरफ हमारा। पूर्वी समाजों की संस्कृति को फ्रांस और इंग्लैंड ने अपने से भिन्न, विपरीत और इसलिए अस्वाभाविक माना, उसे रहस्यमय तथा विकासविहीन कहकर नकारा। एक तरह से आर्थिक संबंध और सामाजिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया लंबे समय तक इसी पूर्वाग्रह के अधीन चलती रही। सैद के अनुसार जैसे-जैसे आर्थिक संबंधों में पश्चिमी शक्तियों का प्रभुत्व बढ़ता गया, वैसे ही 'यहां और वहां' का पूर्वाग्रह राजनीति के माध्यम से वैचारिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक क्षेत्रों में भी प्रवेश करता गया। विशेष रूप से इस तथ्य का साहित्यिक प्रतिफलन अत्यंत मारक बन गया। लेखकों की कल्पना का हिस्सा बनकर इस पूर्वाग्रह ने पश्चिमी मानस में इतनी गहरी जड़ें जमा लीं कि साहित्यिक रचनाओं के स्वरों, उनके पात्रों में इसकी भूमिका बढ़ती चली गई। साहित्यिक कृतियों में इस पूर्वाग्रह के प्रवेश का परिणाम यह हुआ कि पश्चिम के मुख्य वैचारिक क्षेत्रों में पूरबवाद एक स्थापित सत्य के रूप में ग्रहण किया जाने लगा। और जाहिर है कि बदले में इस 'स्थापित सत्य' का एक बार फिर से राजनीतिक उपयोग होने लगा—सैद के मुताबिक प्रारंभिक राजनीति से अंतिम राजनीति तक उसकी विभिन्न अवस्थाओं में तथा विभिन्न स्तरों पर घटित होने वाली इस घनीभूत प्रक्रिया की पहचान से ही आज का चिंतक सही दृष्टिकोण विकसित करने में सफल हो सकता है।

सैद गंभीर वामपंथी व्याख्याकार हैं और विचार की दुनिया में लंबे अरसे से एक परिप्रेक्ष्य के अधीन सक्रिय रहते आ रहे हैं। वह अपने वक्त की दमनकारी व्यवस्था तथा संरचना पर आक्रमण करते हैं और विरोध के उद्देश्य से प्रेरित होकर लिखते-पढ़ते-बोलते हैं। उन्होंने महसूस किया है कि बीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध कई अर्थों में पहले से अलग और विशिष्ट है जिसके परिणामस्वरूप एक सक्रिय चिंतक के लिए नए विषयों और विचार-बिंदुओं पर जोर देना अधिक उपयोगी हो गया है। उदाहरण के लिए, विश्व पटल पर साम्राज्यवादी ताकतों के विरूद्ध सक्रिय रहने का एक उद्देश्य तीसरी दुनिया की राष्ट्रीयता, राजनीति और संस्कृति का हो सकता है। उनके अनुसार यदि किसी तरह इस तीसरी दुनिया के यथार्थ और साम्राज्यवादी संरचना के बीच संभावित विरोध को असल में बदला जा सके तो इतिहास के नए दौर का एक जरूरी काम संपन्न हो सकता है। उनकी नजर में पूरबवाद की अवधारणा का सही आकलन करके, उसके खतरों से सावधान रहकर चिंतकों, व्याख्याकारों द्वारा साम्राज्यवादी नजरिए को प्रभावी चुनौती दी जा सकती है।

चूंकि सैद निरंतर साहित्यिक रचनाओं को, सांस्कृतिक और राजनीतिक घटनाओं को विकसित आलोचना-सिद्धांत के बल पर जांचते-परखते हैं, और 'पूरब' की ओर से 'पश्चिम' पर प्रहार करते हैं, 'पूरबवाद' को पश्चिमी 'प्रभुता' का वैचारिक प्रतिफलन मानते हैं, इसलिए हम सोच सकते हैं कि उन्हें स्वयं भी इस विकसित आलोचना-सिद्धांत की शर्तों पर खरा उतरना चाहिए। मसलन, पूरब-पश्चिम की बात करते वक्त और उसके बीच पैदा होने वाले विभाजन को नकली, साम्राज्यवादी निर्मिति कहते वक्त हमें इस पोजीशन के अंतर्विरोध को भूलना नहीं चाहिए। यदि यह विभाजन गलत तथा गैर-साम्राज्यवादी देशों के लिए हानिकारक है तो अपने विश्लेषण में हमें इस विभाजन की श्रेणी से बचना होगा। सैद ऐसा नहीं करते। इसी तरह केंद्र तथा सीमांत की बात में वर्ग-यथार्थ की उपेक्षा करना, उस श्रेणी के प्रयोग से बचना भी गंभीर कठिनाई तथा संदेह पैदा कर सकता है। इधर के नए वामपंथी विचारक एजाज़ अहमद हमारा ध्यान इसी पक्ष की ओर खींचते हैं तथा अपनी पुस्तक *इन थ्योरी* (सिद्धांत में) में सैद के वैचारिक योगदान पर तीखी टिप्पणी करते हैं।

एजाज़ अहमद का सरोकार लगभग उन सभी विषयों से है जिन पर सैद ने लिखा है। एक तरह से अहमद अपनी तरफ से वही कहना-करना चाहते हैं जो सैद करते हैं। लेकिन अहमद इस काम को बेहतर ढंग से करना चाहते हैं जो उनकी राय में तभी संभव है जब सैद की वैचारिक-राजनीतिक सीमाओं से अवगत हुआ जाए। वर्तमान चिंतन की समस्याओं से परिचय, अहमद के अनुसार, मार्क्सवादी अवधारणाओं की सहायता से ही हो सकता है।

अहमद पूरबवाद पर समग्रता में सोचते हुए अनेक कठिनाइयों का सामना करते हैं। उनकी राय में इस विषय से संबंधित सबसे बड़ी कठिनाई इतिहास के परिप्रेक्ष्य को लेकर है। यदि एक स्तर पर दुनिया को शासकीय ताकतों द्वारा पूर्व-पश्चिम में, बांटा जा सकता है तो दूसरे स्तर पर वही दुनिया पूर्व और पश्चिम में स्थानीय तथा अंतर्राष्ट्रीय अर्थ में एक साथ उच्च और निम्न वर्गों में भी विभाजित हो सकती है—बल्कि असल में विभाजित रहती है। शुद्ध भौगोलिक विभाजन वही करते हैं जो मानव श्रम, शोषण और सामाजिक अन्याय की अवधारणाओं से कतराते हैं। अहमद को सैद मानव

श्रम पर आधारित ऐतिहासिक विकास ही सच्चाई से जानबूझकर बचते नजर आते हैं और यह मानते महसूस होते हैं कि वर्ग-विभाजन से ऊपर, बेहतर और बड़ा विभाजन समाजों, देशों और महाद्वीपों में हुआ करता है। अर्थात, सैद की अपनी सोच में एक गहरी विसंगति नजर आती है जो तब प्रकट होती है जब हम उन्हें एक ही सांस में यह कहता हुआ पाते हैं कि पूर्व-पश्चिम कुछ नहीं होता, यह केवल पश्चिमी दुनिया की अपने हितों की रक्षा हेतु गढ़ी हुई निर्मिति है और तभी यह कि पश्चिमी दुनिया अपने विचारकों, व्याख्याकारों, शासकों, उच्च तबकों आदि की मदद से पूर्वी दुनिया की गलत प्रस्तुति की सहायता से दमन करती आई है। अहमद पूछते हैं कि जब पूर्व-पश्चिम का विभाजन गलत है तो वह आपके विश्लेषण में क्या कर रहा है? आप भी तो पूर्वी विश्व की तरफ से वही कर रहे हैं जिसके लिए पश्चिमी विश्व को बाकी मानवता के संदर्भ में दोषी ठहरा रहे हैं।

इस तर्क को अहमद अधिक स्पष्टता से तब समझाते हैं जब वह सैद के विभाजन-संबंधी कथन को ऐतिहासिक कालखंडों में रखकर देखते हैं। अहमद के मुताबिक पूरबवादी निर्मिति की एक सामान्य तिथि निश्चित होनी चाहिए—अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी, बारहवीं से लेकर सोलहवीं सदी या उससे भी पहले ईसा पूर्व की वे सदियां जब ग्रीस उत्थान पर था। उन्हें संदेह है कि सैद इस विषय पर अलग-अलग वक्तों में अलग-अलग चीजें कहते रहे हैं। यदि सैद अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी पर ठहरते तो माना जा सकता था कि जब इतिहास में साम्राज्यवाद का ठोस आधार विकसित हुआ तब यूरोपीय शक्तियों ने अपनी आर्थिक श्रेष्ठता के अनुरूप पूरबवादी तर्क गढ़ लिया। लेकिन सैद अपने समकालीन चिंतकों, मसलन फूको, दैरिदा, के साथ पूरे नवजागरण पर उंगली उठाते नजर आते हैं जो उनकी (सैद की) दृष्टि में उतना मानवीय, प्रगतिशील, ज्ञान-केंद्रित और वस्तुपरक नहीं है जितना ऊपर से लगता है। अहमद को सैद अपने चिंतन में इतने आग्रही मालूम होते हैं कि वह नवजागरण के विचारकों-लेखकों में पूरबवादी वक्रताएं ढूंढने लगते हैं और जाहिर है कि ढूंढने निकलें तो क्या नहीं मिल सकता! बल्कि इससे भी आगे सैद ग्रीक विचारकों तक में पूरबवाद देख लेते हैं जो अपने ढंग से दूर-दराज के समाजों को परिकल्पित-परिभाषित करते रहे थे।

अहमद की तीसरी असहमति राष्ट्रीयता को लेकर है जिसमें सैद को विशेष खतरा नजर नहीं आता। राष्ट्रीयता समग्र दैशिक सच्चाई का ही रूप है और एक वक्त के शासकीय परिप्रेक्ष्य के अधीन विकसित होती है। पिछली दो-तीन शताब्दियों के इतिहास को देखें तो राष्ट्रीयता में आर्थिक शोषण की कटु सारवस्तु के साथ-साथ सांस्कृतिक पिछड़ेपन, अंधविश्वास, संप्रदायवाद —सामान्य तौर पर फासीवादी प्रवृत्तियों के तत्व मिलते हैं। ये चीजें राष्ट्रीयता का अपेक्षाकृत सम्मानजनक रूप धारण करके अपने समाजों की मानवीय ऊर्जा और वर्ग-राजनीति पर बंधन सिद्ध होती हैं। इस प्रकार आधुनिक संदर्भ में राष्ट्रीयता ऐसी अवधारणा बन गई है जो निर्णायक क्षणों में साम्राज्यवादी राजनीति के हाथों इस्तेमाल होकर तर्कसम्मत ऐतिहासिक चिंतन और समाज-व्यवहार को पनपने से रोकती है। बल्कि एजाज़ अहमद के मुताबिक राष्ट्रीयता की अवधारणा का समुचित विकास अमरीकी तथा अन्य साम्राज्यवादी देशों के अध्ययन केंद्रों में किया गया है और सैद जैसे विचारक उसे सही तरह परखे बिना साम्राज्यवादी वैचारिक योजना का शिकार बन कर अपना लेते हैं। अहमद के अनुसर पूरबवाद, विश्व मानवता का विभाजन, राष्ट्रीयता और तीसरी दुनिया की बातें न केवल सिद्धांत के स्तर पर, बल्कि राजनीतिक और ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से आज के वर्ग-विभक्त तथा संघर्षशील समाजों के लिए हानिकारक और त्याज्य हैं। अपने स्टैंड की सैद्धांतिक ताकत तथा पुख्तगी जाहिर करने के लिए उसे समूचे आधुनिक चिंतन पर एक अर्थवान टिप्पणी घोषित करने की गर्ज से अहमद अपनी पुस्तक को ही *इन थ्योरी* शीर्षक देते हैं। यह पुस्तक सिद्धांत से जुड़े सवाल ही उठाती है।

लेकिन बात इतनी ही नहीं है। इसीलिए अहमद को कुछ दूर तक पढ़ते ही हमें लगता है कि उनकी शिकायतों, उनके सवालों का मूल मकसद न मार्क्सवादी अवधारणाओं को सही साबित करना है, न ही सैद के चिंतन को विकसित करना। *इन थ्योरी* के सैद-संबंधी अतिशय विस्तृत अध्याय के प्रारंभ में यद्यपि अहमद खुद से तथा पाठक से वायदा करते हैं कि वह सैद को समर्थन देने, उनके साथ खड़ा होने के हामी हैं, लेकिन उसी सांस में यह भी कह देते हैं कि समर्थन देने का अर्थ आलोचना न करना नहीं है।

अहमद की मुख्य शिकायत यह है कि सैद कभी कुछ कहते हैं और कभी कुछ, कि सैद के पूरबवाद का कोई सही पता-ठिकाना नहीं है। मसलन सैद नहीं जानते कि पूरबवाद कहां और कब शुरू होता है, उसका स्वरूप क्या है, उसका किन्हीं विशेष राजनीतिक हितों के पोषण के लिए इस्तेमाल होता है या वह स्वतःस्फूर्त ढंग से पश्चिम के विचारकों-लेखकों के मन और दिमाग में बनता-बढ़ता है, आदि, आदि। अहमद यह भी पूछते हैं कि क्या समूची पश्चिमी दुनिया एक सिरे से पूरबवादी आग्रहों का शिकार रही है? 'एक सिरे से' का अर्थ अहमद के लिए प्राचीन ग्रीक चिंतकों-लेखकों से लेकर पूर्व मध्यकाल के महान कवियों, मसलन, दांते जैसे कवियों से है। संक्षेप में, अहमद यह दिखलाने की कोशिश करते हैं कि सैद अनावश्यक रूप से पूरबवाद पर जोर देते हैं, जबकि वास्तव में पूरबवाद का वैसा मजबूत केस नहीं बनता। अहमद द्वारा की गई इस आलोचना पर सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि पूरबवाद की जैसी शक्ल सैद के दिमाग में है, उसमें एक व्यापक तर्क तथा नजरिया ज्यादा महत्वपूर्ण है, न कि सैद्धांतिक रूप से पूरी तरह पुख्ता और चुस्त-दुरुस्त विचार। विस्तार में जाकर, बल्कि कहें कि तर्कों के खेल में मजा लेते हुए, उन्हें अपनी जरूरत के मुताबिक तोड़-मरोड़ कर अर्थ का अनर्थ आज हर ऐसा व्यक्ति कर सकता है जिसने विश्वविद्यालयों में रहते हुए लिखने-पढ़ने तथा बहस करने की ट्रेनिंग ली है। आज का विश्वविद्यालयी अध्येता अपने व्यवसाय में मंजाव हासिल करके एक तेज-तर्रार वकील बनता है जिसका काम प्रायः एक पक्ष को ध्वस्त करके दूसरे पक्ष को स्थापित करना होता है। यह उस विद्वत्तापूर्ण काम और प्रतिबद्धता से पूरी तरह अलग है जहां एक विशेष पक्ष पर गंभीरता से विचार करके उसमें आवश्यक परिवर्तन करते हुए उसे पहले से बेहतर तथा सशक्त बनाया जाता है, उसकी कमजोरियों की आलोचना करते हुए उसे सही दिशा में ले जाकर विकसित किया जाता है। अहमद इस रवैये को छोड़कर तत्ववाद का सहारा लेते हैं।

लेकिन हमें अपनी ओर से सैद के पूरबवादी सिद्धांत तथा फिलिस्तीनी हितों के हक में उनकी भूमिका का आधार देखना-समझना होगा। निश्चय ही, सैद बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के पश्चिमी शिक्षण संस्थान से संबंध रखते हैं, और उसी संदर्भ में अपने व्यवहार की प्रकृति तथा दिशा निर्धारित करते हैं। उनका एकमात्र व्यापक मकसद यह जान पड़ता है, जो उनकी महत्वपूर्ण वैचारिक भूमिका से जुड़ा है, कि उपलब्ध सांस्कृतिक साधनों को फिलिस्तीनी संघर्ष के समर्थन में लगाया जाए। फिर, यह भी पूरी तरह से स्पष्ट है कि फिलिस्तीनी संघर्ष, यदि वह वास्तविक अर्थों में संघर्ष है, तो अनिवार्यतः साम्राज्यवादी हितों के विरोध में खड़ा होगा। आठवें दशक के मध्य से ही सैद इस महत्वपूर्ण ऐतिहासिक विरोध को रेखांकित करते जान पड़ते हैं, इसी से वह अपनी शैक्षिक तथा बौद्धिक भूमिका निश्चित करते हैं। इस व्यापक

विरोध को जीवंत बनाने के लिए, इसे आक्रामक निरंतरता एवं प्रभावात्मकता देने के लिए विभिन्न संदर्भों में सैद्धांतिक-राजनीतिक पैंतरे बदलते हैं। आज का विश्वविद्यालयी व्यक्ति यदि सैद से प्रभाव ग्रहण करता है, अथवा उनकी आलोचकीय तेजी से किंचित आतंकित है तो इसका एक कारण यह है कि सैद उसकी मानसिकता को, उसकी भावभूमि को नित-नए साहित्यिक तथा सांस्कृतिक बिंदुओं पर झकझोरने में सक्षम हैं। कालगत अथवा रचनागत संदर्भ बदलता है तो सैद को ऐसी अनेक स्थापनाएं देनी पड़ती हैं जिनकी पूरी संगति उनके पिछले कथन या कथनों से न बैठती हो। लेकिन, यह सामान्य तथा गौण महत्व की चीज है। विशेष तथा प्राथमिक महत्व की चीज है साम्राज्यवादी सांस्कृतिक माहौल पर प्रहार। अहमद यहां सैद के इस व्यापक मकसद को भूलकर, उसे नजरअंदाज करके पिछले तथा बाद के कथनों की संगति को ढूंढने में व्यस्त हो जाते हैं। क्या सैद के आलोचक का यह कर्तव्य नहीं है कि वह एक व्यक्ति या विचार की ऐतिहासिक भूमिका को एक विशेष राजनीतिक-सांस्कृतिक संदर्भ में समझे तथा उसे इस भूमिका के बल पर जांचे-परखे?

सीमांत से तीसरी दुनिया के मानस या तीसरी दुनिया के साहित्य, यहां तक कि राष्ट्रकुल साहित्य की प्रकृति और उसकी बृहत् या सीमित भूमिका तक पहुंचना सैद की नजर में बड़ी आसानी से, बड़े स्वाभाविक ढंग से हो जाता है। तब इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि राष्ट्रकुल की अवधारणा ब्रिटिश काउंसिल से आती है अथवा किसी दूसरे विरोधी खेमे से। यह सही है कि ब्रिटिश काउंसिल व्यापक साम्राज्यवाद के हित में केंद्र के एक देश द्वारा चलाई गई सक्रिय संस्था है। उसका एक बड़ा मकसद अंग्रेजी संस्कृति को तीसरी दुनिया के मध्यवर्ग के लिए मनोहारी बनाना है। लेकिन यह सच्चाई का मात्र एक हिस्सा है। अहमद यह समझते नहीं जान पड़ते कि उसी सच्चाई का दूसरा हिस्सा यह भी है कि राष्ट्रकुल की अवधारणा को गढ़ना ब्रिटिश काउंसिल की मजबूरी है, उसके बिना साम्राज्यवादी संस्कृति तथा विचार को पूर्व उपनिवेशों के मानस पर आरोपित नहीं किया जा सकता। अर्थात एक वास्तविक अंतराल साम्राज्यवादी केंद्र तथा सीमांत के बीच मौजूद है जिसकी तरफ से ध्यान हटाना, जिसे अपनी तरफ से पाटना उस केंद्र का ध्येय है। यह बात ब्रिटिश काउंसिल समझती है, लेकिन इसे काउंसिल के विरोधी भी समझते हैं, समझ सकते हैं। सवाल उठता है कि क्या इस अंतराल का लाभ केंद्र के विरोध में सक्रिय सैद जैसे लोग कर सकते हैं?

सैद यह मानते नजर आते हैं कि राष्ट्रकुल साहित्य को एक व्यापक रणनीति के तहत केंद्र की संस्कृति और राजनीति के सामने, उसे मामूली ही सही, एक चुनौती देने के हेतु खड़ा किया जा सकता है। साम्राज्यवादी संस्कृति की चकाचौंध में खोया मध्य वर्ग केंद्र को मामूली चुनौती न दे, लेकिन केंद्र की विभाजनवादी अमानवीय दृष्टि से किंचित अवगत हो जाए और उसका उत्साहित समर्थक न बने तो भी ठीक है। अर्थात, सीमांत के देशों के शिक्षित मध्यवर्ग को, राष्ट्रकुल साहित्य वालों को भी, जो अपनी जगह के शासनाधीन माहौल में साहित्य तथा सांस्कृतिक मूल्यों आदि का निर्माण करते हैं, अपनी स्थिति के प्रति सचेत कर पाना संभव है ताकि वे अपने भीतर की मूल मानवीयता की रक्षा के आदर्श से प्रेरित होकर वहां अंग्रेजी तथा स्थानीय भाषाओं के माध्यम से संस्कृति के स्तर पर चलने वाले जनवादी संघर्ष का हिस्सा बन सकें। इस तरह के संघर्ष का एक मूर्त इतिहास मौजूद है जिससे हम सभी लोग वाकिफ हैं। यह जरूर है कि इसे जानने के लिए, ताकि उससे रवैए में आवश्यक परिवर्तन लाया जा सके, हमें उन आग्रहों से मुक्त होना होगा जो संकीर्ण चिंतन की श्रेणी में आते हैं।

यह चीज अहमद द्वारा प्रयुक्त उद्धरणों की लंबी-चौड़ी संख्या, उनके चयन की प्रकृति, एक तर्क के समर्थन में किए गए उनके आत्यंतिक इस्तेमाल, संक्षेप में सैद के विरुद्ध अंतर्राष्ट्रीय पाठकों की अदालत में अहमद द्वारा एक विस्तृत केस तैयार करने के प्रयास में देखी जा सकती है। आलोचना सिद्धांत एक दुधारी तलवार है। उसका इस्तेमाल हम किसी दृष्टिकोण की परीक्षा के लिए कर सकते हैं, लेकिन प्रायः आंतरिक संगति के आधार पर ही। लेकिन यदि उसे हम 'सब कुछ' मानना शुरू कर दें, यह सोचते नजर आएं कि जो आलोचना सिद्धांत की प्रयोगशाला में खरा साबित होता है वही उपादेय और ग्रहणीय है तो एक बड़ी गलती का शिकार हो जाएंगे। जो लोग इस बात को नहीं देख पाते, वे आलोचना सिद्धांत के बड़े नामों, आलोचना सिद्धांतों के कतिपय प्रवर्तकों की पिछले दशकों की कथनी-करनी पर गौर करें, तो यह चीज साफ हो जाएगी कि आलोचना सिद्धांत उतना तटस्थ नहीं है जितना ऊपर से नजर आता है। एक सीमा तक आलोचना सिद्धांत का प्रयोग सैद करते हैं और पश्चिमी साम्राज्यवादी चिंतन को खासा झटका दे देते हैं, लेकिन दूसरी ओर उसी को किंचित 'गहराई' में जाकर अहमद इस्तेमाल करते हैं और पाठक को यह सोचने को मजबूर करते हैं कि सैद असल में पश्चिमी साम्राज्यवादी विचार और राजनीति के ही वाहक हैं। हमारे लिए कई संदर्भों में यह मानना ज्यादा उपयोगी है कि संगति को देखना जरूरी है लेकिन उससे भी ज्यादा जरूरी है कि राजनीति को पहचाना जाए।

हम यह नहीं कहना चाह रहे कि अहमद कुछ मूल वामपंथी अवधारणाओं को वामपंथ के विरोध में जानबूझकर इस्तेमाल कर रहे हैं, बल्कि यह कि वह उस आत्यंतिक संकीर्ण चिंतन की तरफ से पर्याप्त सावधान नहीं हैं जिसके चलते किसी भी विशेष पक्ष या विचार को धराशायी किया जा सकता है। और यह भी कि आलोचना सिद्धांत, विशेषकर उस रूप में जिस तरह वह विभिन्न लोगों के हाथों प्रयुक्त होता है, साम्राज्यवादी विश्वविद्यालयों के प्रांगण में तटस्थ होने का दम भरते हुए राजनीति और विचारधारा को, बल्कि पूरी जीवन-प्रक्रिया को भाषा और पाठ बनाकर रख देता है। और मजा यह कि तब भी यह आत्मविश्वास नहीं जुटा पाता कि उसने 'लड़ाई जीत ली' है। बहरहाल।

अहमद की लड़ाई सैद के साथ तो है ही, तीसरी दुनिया की अवधारणा से भी है। उन्हें लगता है कि तीसरी दुनिया में राष्ट्रवाद इस तरह से निहित है कि उसके प्रति संदेहशील हुए बिना, बल्कि उसे अपनी सोच से खारिज किए बिना राजनीतिक पटल पर कोई भी महत्वपूर्ण तथा सकारात्मक प्रक्रिया शुरू करना तथा उसका निर्वाह करना असंभव है। उनकी राय में तीसरी दुनिया के देशों का राष्ट्रवाद एक तरफ अपने स्थानीय सामाजिक संघर्ष को रोकता या भोथरा करता है, तथा दूसरी तरफ वह साम्राज्यवादी केंद्र का प्रायः सहायक बनता है। इसे सिद्ध करने के लिए उनके पास उदाहरण भी हैं ही। स्थानीय संघर्षों के रास्ते में आने वाली बात का संबंध वहां की सामाजिक ताकतों के साथ-साथ ऐसी विचारधाराओं से भी है जो इतिहास को मिथ का रूप देकर उसे विकृत करती हैं, और फासीवादी संभावनाएं लिए होती हैं। और समस्या इसी समझ में है। वह यह तो मान लेते हैं कि साम्राज्यवादी केंद्र तीसरी दुनिया की राष्ट्रीयताओं को गलत दिशा में मोड़ने की सामर्थ्य रखता है, लेकिन यह नहीं देख पाते कि इसी राष्ट्रीयता के तत्व को एक तीखा सामाजिक संघर्ष, एक समग्रतापूर्ण ऐतिहासिक चिंतन अपने निर्णायक अभियान का हिस्सा बना सकता है। इसके भी उदाहरण इतिहास में मौजूद हैं। सैद इस चिंतन का प्रतिनिधित्व बेशक न करते हों, लेकिन विशेषकर अपने सामाजिक-वैचारिक व्यवहार में वह इस अभियान और चिंतन का मार्ग प्रशस्त करते हैं। इस नाते उनका चिंतन मूलगामी ऐतिहासिक परिवर्तन का सहायक है।

आलोचना सिद्धांत और पश्चिमी विश्वविद्यालयों में 'विकसित' विश्लेषण पद्धति की सीमा का अंदाजा इस चीज से भी होता है कि भारतीय साहित्य को एक श्रेणी के रूप में समझने की कोशिश अहमद के हाथों में एक अजीबोगरीब क्रिया बन जाती है। उनकी एक बड़ी शिकायत यह है कि भारत में ऐसे अध्ययन-केंद्र नहीं बने हैं जहां भाषाओं, साहित्यों तथा साहित्यिक इतिहास पर सिलसिलेवार काम हुआ हो। उनकी राय में जब यह नहीं हुआ है तो 'भारतीय साहित्य' की श्रेणी को व्याख्यायित करना असंभव है। फिर अंग्रेजी को लेकर वह दो बातें कहते हैं। पहली तो यह कि अंग्रेजी के माध्यम से भारतीय लेखन या चिंतन उपलब्ध न होने के कारण एक खास किस्म की तारतम्यता ढूंढना मुश्किल है, और दूसरी यह कि अंग्रेजी इस तरह के काम के लिए बहुत उपयोगी नहीं है। पूछा जा सकता है कि दूसरी बात सही है तो पहली की तुक क्या है? लेकिन सवाल इतना आसान नहीं है। दो विरोधी बातें कहकर तटस्थता का सुपरिचित विश्वविद्यालयी पैंतरा अख्तियार किया जाता है। यदि स्थिति इतनी दुष्कर है तो इस विषय को अध्ययन का उद्देश्य बनाना ही अनुचित है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय साहित्य की श्रेणी को समझने के लिए सैद की अवधारणा एक हद तक हमारी मदद करती है जिसे अहमद मानने को तैयार नहीं हैं। उसे काटने के हेतु ही अहमद स्कालरशिप, अध्ययन, अनुवाद की अनुपलब्धि, अविकसित बौद्धिक वर्ग, लेखकों, कृतियों आदि की बात करते हैं। निश्चय ही, ये चीजें जरूरी तो हैं लेकिन एक सीमा के भीतर। इनका संबंध मध्यवर्गीय सामाजिक प्रक्रिया से है। ज्यादा महत्वपूर्ण चीज है साम्राज्यवाद के विरुद्ध चलने वाला हमारा राष्ट्रीय संघर्ष। हमें यह नजरअंदाज नहीं करना चाहिए कि हमारे आधुनिक ज्ञान का आधार राष्ट्रीय आंदोलन की जुझारू स्पिरिट थी, उसे आज भी अपने विचार के फोकस में रखकर हम भारतीय साहित्य की श्रेणी को किसी हद तक ग्रहण कर सकते हैं। अर्थात सवाल ज्ञान या अध्ययन-पद्धति या अध्ययन-परंपरा का न होकर परिप्रेक्ष्य का है। साहित्यिक इतिहास के क्षेत्र से साम्राज्यवादी संघर्ष को निकालकर हम कहीं पहुंचने की स्थिति में नहीं होंगे। दूसरे, अब हमारा साम्राज्यवाद से रिश्ता पहले से अलग किस्म का है। उसमें सैद हमारी मदद करते हैं। भारतीय साहित्य यानी वह साहित्य जो अपनी सच्चाई को यहां के वास्तविक साम्राज्यवाद के तहत बुर्जुआ शासित अर्थ में देखता है और उसे साम्राज्यवादी वैचारिक आग्रहों से अवगत रहते हुए समझता है।

परेशानी यही है। राजनीति अमूर्तन और तत्ववाद राष्ट्रीय संघर्ष को एक सिरे से खारिज करके अपना आधार अध्ययन-केंद्रों, अनुवादों, आदि में ढूंढता है और जाने-अनजाने समाजशास्त्रीय पद्धति की जकड़ में आ जाता है। इसके स्थान पर यदि हमें भारतीय साहित्य की श्रेणी को सही ढंग से समझना है तो सैद के चिंतन को प्रारंभ-विंदु बनाना होगा और उसे विस्तार देने के लिए अपनी संघर्षधर्मिता को अपने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करना होगा। इसी से तीसरी दुनिया के साहित्य या भारतीय साहित्य की, या फिर बंगला, तमिल या उर्दू-हिंदी लेखन की श्रेणी मूर्तता तथा विस्तार प्राप्त करेगी और अपने माध्यम से यहां की संघर्षधर्मी शोषित जनता के महत्वपूर्ण अनुभवों का वहन करने की क्षमता भी जुटा पाएगी। ❑

अंग्रेजी में हिंदी कविता

पृष्ठ 16 से आगे

में इस एक शब्द की व्यंजना और महत्व को नहीं समझ पाए? इस शब्द का अनुवाद छोड़कर उन्होंने कविता के पहले वाक्य के अर्थ को नितांत सीमित और सपाट बना दिया है। इसी तरह 'क्या आप बदल न सकेंगे' के अनुवाद में 'इट' जोड़कर इस पंक्ति की एकाधिक अर्थ छवियों को नष्ट कर दिया है और उसे नितांत सपाट बना दिया है। कवि जब कहता है कि 'क्या आप बदल न सकेंगे' तब वह केवल चेक के बदलने की बात नहीं कर रहा है, 'आप' के बदलने की भी बात कर रहा है। 'हड्डियों को नहीं' लिखकर शमशेर ने पाठक को एक झटका दिया है ताकि वह उपर्युक्त पंक्ति की व्यंजना को पकड़ने के लिए रुके और उसे ठीक-ठीक समझे। लेकिन विष्णु खरे रुके नहीं हैं, बल्कि अपने अतिरिक्त आत्मविश्वास में झटका खा गए हैं।

कविता का ठीक-ठीक अनुवाद कई बार असंभव होता है। मूल भाषा का संगीत, श्लेष-यमक पर आधारित एकाधिक अर्थ, सामाजिक-सांस्कृतिक और दार्शनिक संदर्भ, आलंकारिक चमत्कार, मुहावरेदानी, सूक्तिमयता, शब्द-संलग्न संवेद इत्यादि को अनुवाद में उतार पाना सर्वत्र शक्य नहीं होता। रवींद्रनाथ ठाकुर जब कबीर के 'हंसा करो पुरातन बात' को अंग्रेजी में 'टैल मी, ओ स्वान, यूअर एंशीएंट टेल' के रूप में अनूदित करते हैं तब वह भूल जाते हैं कि 'हंसा' मात्र पक्षी नहीं है कि उसे 'स्वान' के रूप में अनूदित किया जा सके, बल्कि वह मुक्तात्मा है, जिसके पीछे एक पूरी दार्शनिक-सांस्कृतिक परंपरा है। इसलिए यदि वह अनुवाद में भी 'हंसा' को 'हंसा' ही रहने देते तो ज्यादा अच्छा होता। इसी तरह 'पुरातन बात' कोई पुरानी कथा नहीं है बल्कि पूर्व जन्मों की कहानी है। इसलिए अनुवाद में उसे मात्र 'एंशिएंट टेल' कहना पर्याप्त नहीं है। रवींद्रनाथ टैगोर जैसे कवि से कबीर की उपर्युक्त पंक्ति के और अधिक अच्छे एवं सटीक अनुवाद की अपेक्षा थी। गुलाबो को रोजी, कुमुद को लिली या नीलोफर, सुंदरी को शकीला के रूप में इनके व्यक्तिवाचक होने पर यदि अनूदित कर देंगे तो बहुत बड़ी सांस्कृतिक गड़बड़ हो जाएगी।

श्लेष-यमक पर आधारित बहुअर्थी काव्य रचनाएं किस तरह अनुवादक की असमर्थता को रेखांकित करती हैं, इसका उदाहरण विहारी के अत्यंत प्रसिद्ध दोहे का अमरनाथ झा कृत निम्नांकित अंग्रेजी अनुवाद है :

मेरी भवबाधा हरो, राधा नागरि सोय।
जा तन की झांई परे, स्याम हरित दुति होय।।

Release me from the earthly bondage,
O Radha, Celestial
demsel, the mere lustre of whose body tints dark-complexioned Krishna in evergreen heloes of delight.

इस अनुवाद में अमरनाथ झा दोहे के केंद्रीय अर्थ को तो अनूदित कर पाए हैं लेकिन जिन अन्य अर्थछायाओं को पकड़कर विद्वान जो बुद्धिविलास करते रहे हैं, वे इस अनुवाद में नहीं आ पाई हैं। इसमें अनुवादक का उतना दोष नहीं है जितना अंग्रेजी भाषा की सीमाओं का है। सीमाएं केवल हिंदी की ही नहीं है, अंग्रेजी की भी हैं। सीमाएं हर भाषा की होती हैं। यदि कोई एक भाषा की सीमाएं देख लेता है, दूसरी की नहीं देख पाता तो वह अपनी ही सीमाओं का परिचय देता है।

हिंदी कविता के अंग्रेजी भाषा में किए गए अनुवादों की यह नखदर्पणी झलक है। इस झलक को देखकर अब तो हमें अपनी हीन भावना से मुक्त हो जाना चाहिए। ❑

बाजार का परिप्रेक्ष्य

हिंदी पुस्तकों के समाज में न लेखकों का अभाव है, न प्रकाशकों का और न खुद पुस्तकों का। बस एक पाठक ही वहां ढूंढे नहीं मिलता। यह एक आम धारणा है जिससे सभी सहमत हैं। इसके बावजूद न लेखक लिखना बंद करता है और न प्रकाशक छापना। **आर. चेतन क्रांति** *इस गुत्थी पर प्रकाश डालने का प्रयत्न कर रहे हैं।*

हिंदी पुस्तक के समाज में न लेखकों का अभाव है, न प्रकाशकों का और न खुद पुस्तकों का, बस एक पाठक ही वहां ढूंढे नहीं मिलता। यह एक आम धारणा है जिससे सभी सहमत हैं — लेखक भी और प्रकाशक भी। इसके बावजूद न लेखक लिखना बंद करते हैं और न प्रकाशक छापना। पिछले कुछ सालों में जहां अनेक अखबार और पत्रिकाएं बंद हुईं वहां एक भी खबर किसी प्रकाशन के बंद होने की नहीं आई। प्रकाशक बढ़े हैं और उन्हें प्रकाश्य सामग्री की भी कोई कमी हुई हो, ऐसा भी नहीं लगता — किताबें भी खूब आईं। किताबों के मुकाबले अखबारों के पाठक कहीं ज्यादा हैं, फिर भी अखबार बंद हुए और किताबें बराबर छप रही हैं। ऐसा क्यों?

क्या हमारे प्रकाशक पर पाठक के होने-न-होने का कोई असर नहीं पड़ता? क्या उसके व्यवसाय के लाभकारी स्रोत पाठक के अलावा कहीं और होते हैं? हमारी मूल जिज्ञासा यही थी जिसके चलते हमने कुछ प्रकाशकों, पुस्तक विक्रेताओं और पाठकों से बातचीत की। इस बातचीत के सिलसिले में जो बातें साफ हुईं उनमें प्रमुख यह थी कि पाठक दरअसल उस शृंखला की एक ऐसी असहाय, निरुपाय कड़ी है जिसके अपने हाथ में कुछ नहीं है और जिसके अस्तित्व को न तो प्रकाशक ही स्वीकार करना चाहता है और न लेखक ही। यानी पाठक है लेकिन उसकी उपस्थिति को माना नहीं जाता। निर्णायक भूमिका उसकी नहीं है, न लेखन में और न प्रकाशन में। सारा कारोबार उसे यानी वास्तविक उपभोक्ता को नजरअंदाज करते हुए चलता है।

अपने आप में यह एक आश्चर्य हो सकता है कि उपभोक्ता अगर नहीं है तो उत्पादन किसके लिए। लेकिन आश्चर्य के लिए इसमें इसलिए कुछ नहीं है क्योंकि उपभोक्ता के स्थान पर यहां उपभोक्ता का एक विकल्प खोज लिया गया है। वह है सरकारी खरीद तथा पुस्तकालयों और संस्थाओं को थोक सप्लाई। कुल उत्पादन का लगभग दो-तिहाई हिस्सा यह आविष्कृत और कृत्रिम उपभोक्ता डकार जाता है। हिंदी के अग्रणी प्रकाशकों में से एक 'प्रभात प्रकाशन' के प्रभात कुमार का कहना है कि उनकी तकरीबन सभी पुस्तकें पुस्तकालयों को ही जाती हैं। बहुत कम ऐसा हुआ है कि, "किसी पाठक ने सीधे आकर कोई पुस्तक हमसे खरीदी हो। अगर कोई आता भी है तो हम उसे पुस्तकालय ही जाने की सलाह देते हैं, क्योंकि हम नहीं चाहते कि इस महंगाई के जमाने में कोई पाठक अपनी जेब से एक पुस्तक पर ढाई-तीन सौ रुपये खर्च करे।"

अशोक माहेश्वरी, जो 'राजकमल' और 'राधाकृष्ण' दोनों का काम देख रहे हैं, भी इस बात को स्वीकार करते हैं कि प्रकाशन व्यवसाय में संस्थाओं को जाने वाली थोक सप्लाई की बहुत बड़ी भूमिका है। 'हिंदी बुक सेंटर' के अनिल वर्मा कहते हैं कि पचास प्रतिशत प्रकाशक केवल पुस्तकालयों को ध्यान में रखकर पुस्तकें छापते हैं।

पाठक स्वयं एक समर्थ और महत्वपूर्ण संस्था के रूप में विकसित न हो बल्कि उसकी जगह किसी स्थापित संस्था की ठंडी संवेदनहीन अलमारियां ले लें, इसकी वजह क्या है? इसके जवाब में सबका एक स्वर से यही कहना था कि खुदरा बिक्री उतनी नहीं हो पाती कि हमारी लागत भी निकल आए, सो मजबूरन हमें पुस्तकालयों पर निर्भर होना पड़ता है। खुदरा बिक्री न होने के तीन कारण बताए गए — एक, पुस्तकों की ऊंची कीमत; दो, हिंदी भाषी समाज में पढ़ने के संस्कारों का न होना, यानी पाठकों का ही न होना; और तीन, हिंदी लेखक का पाठक से निरपेक्ष होकर लिखना।

जहां तक पुस्तकों की महंगाई का सवाल है उसके लिए कागज और दूसरे कच्चे माल की बेतहाशा बढ़ती कीमतें तो जिम्मेदार हैं ही, साथ ही इसका संबंध पाठकों के होने-न होने से भी है और थोक सप्लाई की परंपरा भी इसमें एक अप्रत्यक्ष कारक की भूमिका में बदस्तूर रहती है। कीमतें इसलिए भी बढ़ती हैं कि पाठक पुस्तकें नहीं खरीदते। प्रकाशक के पास क्योंकि अपने नए प्रकाशन के भावी खुदरा बाजार का कोई अनुमानित आंकड़ा नहीं होता सो वह पुस्तक की उतनी ही प्रतियां छापता है जितनी सरलता से थोक सप्लाई में खपाई जा सकें। और क्योंकि यह संख्या कम होती है इसलिए कुल प्राथमिक लागत को निकालने के लिए वह उनकी कीमत ज्यादा रखता है। प्रकाशकों का कहना है कि अगर खुदरा बाजार की सुनिश्चितता हो तो प्रतियां ज्यादा छापी जाएं जिससे कीमतें खुद-ब-खुद कम हो जाएंगी। इस समय सामान्यतः हर प्रकाशक अपनी किसी भी पुस्तक की हजार से ज्यादा प्रतियां नहीं छापता।

अब खुदरा बिक्री की गारंटी प्रकाशक को कौन दिलाए? यहां भूमिका आती है पुस्तक विक्रेता की। दिल्ली में 'हिंदी बुक सेंटर' एक ऐसी जगह

है जहां एक छत के नीचे आठ सौ से ज्यादा प्रकाशकों के हिंदी-उत्पादन उपलब्ध हैं। हिंदी पुस्तकों के लिए यह शायद पूरे देश में अकेला केंद्र है जहां सिर्फ साहित्य ही नहीं बल्कि हर विषय पर हिंदी में छपी पुस्तकों के लिए पहुंचा जा सकता है। सेंटर के अनिल वर्मा इसे अंधविश्वास ही मानते हैं कि हिंदी में पाठक नहीं हैं। इसे सिद्ध करने के लिए उन्होंने कई तथ्यों से अवगत कराया। उन्होंने बताया कि पिछले पच्चीस सालों से 'हिंदी बुक सेंटर' हिंदी के पाठकों को उनकी पसंद की पुस्तकें मुहैया कराता आ रहा है और यह व्यवसाय उन्हें घाटे का बिल्कुल नहीं लगा। क्यों, क्योंकि पचास से सत्तर तक पाठक अपनी व्यक्तिगत खरीद के लिए प्रतिदिन सेंटर पहुंचते हैं और अपनी पसंद की पुस्तकें खरीदकर ले जाते हैं। प्रकाशकों को अपने भावी बाजार का अनुमान नहीं है, इसके लिए वे प्रकाशकों ही को उत्तरदायी मानते हैं। उनका कहना है कि भारत में प्रकाशन व्यवसाय में पुस्तक विक्रेता वहैसियत एक संस्था के विकसित हो ही नहीं पाया। फिलहाल स्थिति यह है कि प्रकाशक ही विक्रेता भी है और पुस्तक विक्रेता को बीच से निकालने के लिए अपने ग्राहक को खुद ही डील करना चाहता है। लेकिन उसकी क्षमता इतनी भी नहीं है कि वह वास्तविक पाठकों को खोजने, पैदा करने और वितरण की व्यापक व्यवस्था विकसित करने का जोखिम ले सके, इसलिए वह सबसे आसान और सुलभ ग्राहक ही को पकड़ लेता है यानी अपना माल पुस्तकालयों और संस्थाओं को सौंप देता है।

प्रकाशन तंत्र में और खासतौर से हिंदी में बाजार के सृजन की अवधारणा वास्तव में ही नहीं है। अर्थात यहां अपने उत्पादन के लिए बाजार या उपभोक्ता खोजने और पैदा करने की वैसी उत्कंठा नहीं पाई जाती जैसी आधुनिक बाजार व्यवस्था में अन्य उपभोक्ता वस्तुओं के उत्पादन क्षेत्रों में नजर आती है और जिसका विशेषतः आजकल काफी बोलबाला है। इस व्यवसाय में प्रतियोगिता जैसी कोई प्रक्रिया भी कम-से-कम सतह के ऊपर देखने में नहीं आती। सभी संत-भाव से छाप रहे हैं और अपना माल जहां-तहां खपाते जा रहे हैं (और बेशक इस खपाने के सिलसिले में तो प्रतिस्पर्द्धा का कोई न कोई समीकरण तो बनता ही होगा)। 'राजकमल' और 'राधाकृष्ण' के अशोक माहेश्वरी इस बात को स्वीकार करते हैं कि हिंदी प्रकाशक एक पाई भी अपने उत्पादन के प्रचार पर खर्च नहीं करता (उनके शब्द 'कर नहीं सकता')। उन्हें सिर्फ पत्र-पत्रिकाओं में छपी पुस्तक समीक्षाओं या कभी-कभार हत्थे चढ़े पाठकों के हाथ में सूची-पत्र थमा देने से ही काम चलाना पड़ता है। पुस्तक विक्रेताओं को साथ लेकर क्यों नहीं चला जाता, इस सवाल के जवाब में श्री माहेश्वरी पूछते हैं कि विक्रेता हैं कहां? क्या प्रकाशक अपनी पहल पर विक्रय केंद्रों और विक्रेताओं को प्रोत्साहित नहीं कर सकते? इस पर उन्होंने प्रकाशकों की आपसी फूट और राजनीति का हवाला दिया जिसके चलते किसी पाठकोन्मुख योजना पर सोचना भी असंभव है।

इसमें कोई शक नहीं कि अगर पाठक को लक्ष्य मानकर पुस्तकें छापी जाएं तो परिणाम निराशाजनक नहीं होगा। इसका सबूत विभिन्न प्रकाशकों द्वारा चलाई गई पेपरबैक योजनाएं हैं। स्वयं राजकमल पेपरबैक्स अत्यंत लोकप्रिय शृंखला रही है। माहेश्वरी इसे वाकई अपनी एक उपलब्धि के रूप में रेखांकित करते हैं। इसकी सफलता के पीछे दो कारण मुख्यतः रहे — कम कीमत और अच्छी पठनीय सामग्री की सुरुचिपूर्ण प्रस्तुति। पेपरबैक्स में उन्हीं पुस्तकों को छापा जाता है जो अपने पुस्तकालयी दिनों में समीक्षकों द्वारा सराही गई हों और चर्चित रही हों। यानी जिनके खुदरा बाजार का कुछ तो पूर्वानुमान प्रकाशक को रहता ही है। देखा जाए तो हिंदी की वास्तविक पाठकीयता दरअसल पेपरबैक्स पाठकीयता ही है। लेकिन इससे यह भी साबित होता है कि हिंदी क्षेत्र पुस्तक प्रेमियों से एकदम शून्य नहीं है।

अभाव एक व्यवस्थित बाजार का है — एक ऐसे दुतरफा वातावरण का जिसमें पाठक और प्रकाशक दोनों आश्वस्त और सुनिश्चित रह सकें। 'हिंदी बुक सेंटर' के अनिल वर्मा इसी बात पर सबसे ज्यादा जोर देते हुए अपना उदाहरण देते हैं। उनके अनुसार ग्राहकों की आमद का जोर और उनकी विविध मांगों को देखते हुए सेंटर को पूर्णतया एक बड़े शोरूम की शक्ल देनी पड़ी। जिसमें न सिर्फ पुस्तकों की विविधता और संख्या को बढ़ाया गया बल्कि उनके आकर्षक ढंग से सजाकर रखने पर भी खासा ध्यान दिया गया। इससे यह फायदा हुआ है कि पाठक को ज्यादातर अपनी इच्छित पुस्तक तो मिल ही जाती है, वह दूकान में ज्यादा देर रुकना भी चाहता है और सुविधानुसार अपनी पसंद की अन्य पुस्तकों को भी देख पाता है। वर्मा के अनुसार दिल्ली के कोने-कोने से पाठक यहां पहुंचते हैं और सुदूर इलाकों में ऐसे ही और केंद्र खोलने की मांग भी अक्सर करते हैं (हिंदी बुक सेंटर पुरानी और नई दिल्ली के संधिस्थल आसफ अली रोड पर स्थित है) लेकिन हम इस समय और केंद्र खोलने की स्थिति में नहीं हैं। वर्मा बताते हैं कि कई बार पाठक निराश भी लौटते हैं क्योंकि उनकी इच्छित पुस्तक प्रकाशक हमें उपलब्ध नहीं कराते। उन्होंने जानकारी दी कि उनके ग्राहकों में अनिवासी भारतीयों और हिंदी जानने वाले विदेशियों की संख्या भी उल्लेखनीय है।

हमेशा अपने दुर्भाग्य को रोने वाले हिंदी प्रकाशकों और लेखकों के बीच एक विक्रेता की यह उत्साहजनक मुद्रा सचमुच गौरतलब है। लेकिन ऐसा वातावरण बड़े पैमाने पर क्यों नहीं बन पाया? इस सवाल के साथ हम कुछ पाठकों से मिले। संजय अग्रवाल हिंदी के नियमित पाठक हैं (और महंगे पुस्तकालयी संस्करणों को पुस्तकालयों और प्रकाशनों से चुराकर पढ़ने में भी गुरेज नहीं करते) इनका कहना है कि हिंदी में पुस्तक का बाजार न बन पाने का एक कारण हमारी मानसिकता में पुस्तकों के साथ जुड़ी पवित्रता की भावना भी हो सकती है। लेकिन दुर्भाग्य से जिस तरह हमारी संस्कृति के तमाम पवित्र प्रतीक हमारी अनेक लिप्साओं के लिए आवरण ही का काम करते हैं, उसी तरह पुस्तक के 'टैबू' के पीछे भी प्रकाशन तंत्र की सुविधापरस्ती बखूबी अपना काम करती रहती है। उसके चलते वे खुले बाजार के जोखिम से बचते हुए अपना माल पुस्तकालयों के आसान और छद्म बाजार में गलाने के लिए झोंक देते हैं। लेकिन यह ज्यादा अपवित्र है। वह कहते हैं कि बाजार के लटके-झटके यहां न हों, ऐसा नहीं है, फर्क सिर्फ इतना है कि वे पाठक को लक्षित नहीं हैं। पुस्तकें बिकती नहीं हैं, फिर भी आप इन्हें क्यों छाप रहे हैं, इस सवाल के जवाब में प्रकाशकों से मिली यह सूक्ति कि 'हिंदी की सेवा के लिए' भी अग्रवाल के कथन की रोशनी में एक छद्म ही प्रतीत होती है।

एक अन्य पाठिका संध्या शुक्ला भी प्रकाशन तंत्र को ग्राहक केंद्रित बनाने को बेहद जरूरी मानती हैं। साथ ही कागज आदि कच्चे माल की कीमतों पर नियंत्रण रहे इसके लिए वह सरकार की जिम्मेदारी को भी रेखांकित करती हैं। गीता प्रेस, गोरखपुर का हवाला देते हुए उन्होंने कहा कि अव्वल तो प्रकाशकों ही को चाहिए कि वे उसी निष्ठा भाव से अपने सेक्युलर प्रकाशनों को पाठकों तक लेकर जाएं और अगर खुद नहीं कर सकते तो सरकार से मुहल्लों, कस्बों और छोटे शहरों में बुक डिपो खोलने की मांग करें। पेपरबैक्स ज्यादा-से-ज्यादा छापे जाएं और पुस्तक को एक 'अत्यंत खूबसूरत' शो पीस के रूप में छापने की बजाय उसकी पाठकीय उपयोगिता को प्राथमिक माना

जाए। इस तरह एक सिलसिला बनेगा और जहां-तहां बिखरा पाठक सिर्फ इसलिए अपनी वांछित पुस्तक से वंचित नहीं रहेगा कि उसे मालूम ही नहीं कि कौन-सी नई किताब छपी है और वह कहां मिलेगी।

इस सिलसिले में हालांकि लेखक की भूमिका तक जाना हमारा मकसद नहीं था लेकिन एक निर्णायक घटक के रूप में उसका जिक्र बार-बार आता रहा। हिंदी पुस्तक के बाजार की दरिद्रता के कारणों में एक यह भी पाया गया कि लेखक वर्ग भी अपने पाठक की ज्यादा परवाह करने की मनःस्थिति में नहीं रह गया है। और यह कि पुस्तक के साथ उसका संबंध भी लगभग उतना ही संकीर्ण है जितना प्रकाशक का। प्रकाशक अगर पुस्तकालय तक पहुंचकर ही संतुष्ट है तो लेखक को अपना मोक्ष छपने-भर से ही प्राप्त हो जाता है। पिछले दिनों समाजशास्त्रीय विषयों पर कई मौलिक पुस्तकें हिंदी में आईं लेकिन उनमें एक भी अपने लेखक के सुचारु और नियोजित चिंतन का परिचय नहीं देती। वे उनके फुटकर चिंतन का संकलन भर रहीं और विषयगत दोहरावों के बावजूद किसी निष्कर्ष पर पहुंचने वाली साबित नहीं हुईं।

'हिंदी बुक सेंटर' के वर्मा बताते हैं कि उनके ग्राहकों की ज्यादातर मांग अंग्रेजी तथा भारतीय भाषाओं से हिंदी में अनूदित साहित्य के लिए रहती है। उनके अनुसार हिंदी के लेखक पाठक के प्रति सजग होकर आमतौर पर नहीं लिख रहे हैं। प्रयोग होते हैं लेकिन उनका हर प्रयोग उन्हें अपने पाठक से और दूर ले जाता है। इसके बावजूद जो पुस्तक वाकई नई जमीन तोड़ती है, वह बिकती भी है। पिछले दिनों खूब चर्चित रहा सुरेंद्र वर्मा का उपन्यास *मुझे चांद चाहिए* (राधाकृष्ण) की लगभग ढाई सौ प्रतियां सेंटर खुदरा ग्राहकों को बेच चुका है। इस पर सहमत होते हुए राधाकृष्ण के माहेश्वरी ने बताया कि उपर्युक्त उपन्यास के अलावा *दिलो दानिश* (कृष्णा सोबती) और *परंपरा, इतिहास बोध और संस्कृति* (श्यामाचरण दुबे) के उन्हें साल में दो-दो संस्करण निकालने पड़े।

'प्रभात प्रकाशन' के प्रभात कुमार कहते हैं कि उन्हें कई बार ऐसे लेखकों को छापना पड़ता है जिनके बारे में पहले से पता होता है कि सिवा पुस्तकालयों के कोई उनका ग्राहक नहीं होगा। बेशक पाठक-मुक्त लेखन के प्रकाशन में थोक सप्लाई का तत्व निर्णायक भूमिका निभाता है। अगर कसौटी पाठक हो तो ऐसे लेखन पर रोक लगाई जा सकती है।

निस्संदेह, वह पाठक ही है जिसे प्रकाशन प्रक्रिया की पहली और आखिरी कड़ी के रूप में मान्यता मिलनी चाहिए। इसके लिए एक उपभोक्ता-संस्कृति (शब्द से न बिदकें) के विकास की जरूरत है। पुस्तक को पूजनीय वस्तु के रूप में बदल दिए जाने के मुकाबले उसका उपभोग बहरहाल उसी के हित में है। इसके लिए निश्चय ही ज्यादा अपेक्षा प्रकाशक से ही है क्योंकि अभी तक प्रकाशन की सभी लाभ-हानियों के केंद्र में वही प्रमुख है।

पुस्तक मेलों से भी इसके लिए वातावरण बनता है। यह भी हो सकता है कि लंबे समय तक सरकारी विश्व पुस्तक मेले जैसे बड़े आयोजनों का इंतजार न करके प्रकाशक समुदाय खुद अपनी पहल पर ऐसे मेले छोटे स्तर पर आयोजित करे। ❑

एक कविता : **पवित्र मोहन दाश**

प्रतिद्वंद्वी

आपके और मेरे सिवा
अब कोई नहीं है मंच पर
कल फांसी पर लटक जाएंगे जितने दर्शक
कह रहे हैं हंस-हंसकर
आपकी नायक की भूमिका है खूब
प्रशंसनीय

इतने वज्र-बिजली के अंदर
ये सब न समझकर रोते-रोते
मैं बना रहा हूं एक षडयंत्र
जिंदा रहने से न मर जाने तक
विस्तृत आकाश के अंदर
जिस रास्ते से गुजरेगा आपका
नंदिघोष (रथ)
हृदय का हाहाकार हृदय तक
लौटते वक्त
हल्की-सी मुस्कान के साथ फिर खोद रहा हूं सुरंग
एक
जिसके अंदर से होकर भाग जाऊंगा
षडयंत्र सफल न होने पर।

कौन जाने?
आने वाला कल का सूरज आपसे पूछेगा
युद्ध का समाचार
या
मेरे सिवा कोई और न होगा
मंच पर।

उड़िया से अनुवाद : **दीप्ति प्रकाश**

खुला मस्तिष्क : खिला हुआ हृदय

राजकुमार सैनी

हिंदी जगत में कई तरह की त्रयी हैं – यथा, छायावाद - त्रयी (प्रसाद, पंत, निराला); वर्मा - त्रयी (महादेवी वर्मा, भगवती चरण वर्मा, रामकुमार वर्मा); प्रगतिशील कवि - त्रयी (केदार नाथ अग्रवाल, नागार्जुन, त्रिलोचन) आदि। इसी तरह एक और त्रयी है। जिसमें हैं–सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन, विद्यानिवास मिश्र और शंकर दयाल सिंह। अज्ञेय शंकर दयाल सिंह को कमांडर कहकर बुलाते थे।

अज्ञेय का कहना था, "शंकरदयाल सिंह हंसमुख हैं, मिलनसार हैं, व्यवहारकुशल हैं, सहृदय हैं, यह तो वर्षों के परिचय से जानता था। पर बढ़िया यात्रा संगी भी हैं, यह तीन-चार वर्ष पहले साथ यात्रा करके ही जाना।"

विद्यानिवास मिश्र का कथन है, "शंकरदयाल सिंह को जब से जानता हूं तब से उन्हें संचरणशील ही देखा है, या फिर गोष्ठी जमाए हुए और बैठक की दीवार ठहाकों से हिलाए हुए। कब वह लिखते हैं, यह पता ही नहीं चलता।"

वह कब लिखते हैं इसका मुझे तब पता चला; जब मैं उनके साथ-साथ लंबी यात्राओं पर निकला। रेल में सफर करते हुए, होटल में निशीथ के दौरान मैंने उन्हें लिखते हुए कई बार देखा। उन्होंने राजनैतिक और साहित्यिक दोनों तरह का लेखन किया। लेखन की भाषा सरल, सहज और सर्जनात्मक है। गहराई, जटिलता तथा संश्लिष्टता वहां लगभग नहीं है; सपाटता, स्पष्टता और रोचकता है। कुल मिलाकर उनकी कृतियां रोचक और पठनीय हैं। विशेष रूप से यात्रा-संस्मरणों तथा व्यक्ति-संस्मरणों द्वारा उन्होंने हिंदी साहित्य की अभिवृद्धि की।

शंकरदयाल सिंह अज्ञेय के प्रति अत्यंत निष्ठावान थे। मैं छायावाद के बाद के कवियों में अज्ञेय को कम महत्व देता था। लेकिन शंकरदयाल सिंह ने, मेरी मान्यताओं का बिना खंडन किए, स्नेहपूर्वक समझाया कि अज्ञेय अपने समय के एक अत्यंत महत्वपूर्ण कवि और कथाकार हैं। मैंने अज्ञेय के प्रति अपने आग्रहों को विनीत किया और फिर समझा कि सचमुच तमाम सीमाओं के बावजूद वह अपने समय के एक महत्वपूर्ण साहित्यकार हैं। शंकरदयाल सिंह अपने खर्च पर मुझे बिहार में अपने मूल निवास-स्थान देव में ले गए। वहां एक वाटिका में उन्होंने अज्ञेय की एक सुंदर मूर्ति स्थापित की है, जो मुझे दिखाई। वह हर वर्ष अपने मूल निवास स्थान पर जाकर उस वाटिका में अज्ञेय की मूर्ति का अभिनंदन किया करते थे।

शंकर दयाल सिंह के साथ लेखक

शंकरदयाल सिंह स्वतंत्रता के बाद की उदारवादी बुद्धिजीवियों की परंपरा के दावेदार थे। किसी भी विचार या सिद्धांत को अंशतः स्वीकार करने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता था लेकिन पूर्णतः वह किसी भी विचार या सिद्धांत को स्वीकार करने से इंकार करते थे; और, किसी सिद्धांत, विचार अथवा विचारधारा के प्रति पूरी तरह समर्पित होने को मानसिक गुलामी का पर्याय मानते थे। तथापि, गांधीजी के विचारों के प्रति वह लगभग प्रतिबद्ध होने का दावा करते थे। कुल मिलाकर वह उदारतावादी, समन्वयवादी और व्यवहारवादी होने का परिचय देते थे। किसी भी राजनैतिक दल में हों, लेकिन दलों के दलदल से ऊपर। साहित्य और कला के क्षेत्र में किसी भी वाद अथवा विवाद से तटस्थ तथापि किसी के भी प्रति नकारात्मक नहीं।

हिंदी के जिस लेखक या सेवी अथवा हिंदी भाषा और साहित्य के विकास तथा प्रचार-प्रसार से जुड़े व्यक्ति के निकट संपर्क में आ जाते थे, उसे अपना आत्मीय मानकर उसकी सहायता करने के लिए तत्पर रहते थे। एक छोटे भाई की तरह मेरा खयाल रखते थे। कुल मिलाकर एक यारबाश साहित्यिक और साहित्यकार। न फरिश्ते न राक्षस। एक संवेदनशील और विवेकी इंसान। हिंदी के आशिक।

लेकिन उनका हिंदी-प्रेम संकीर्ण या सांप्रदायिक कोटि का नहीं था। वह हिंदी के साथ-साथ भारत की अन्य सभी भाषाओं - उपभाषाओं प्रति सकारात्मक और स्वीकारात्मक दृष्टि के लिए जाने जाते थे। संसदीय राजभाषा समिति की निरीक्षण-बैठकों और साक्ष्य-बैठकों में अहिंदी भाषी संसद-सदस्यों को अपनी भाषा में बोलने के लिए आमंत्रित करते थे। भाषाओं के क्षेत्र में उदार, व्यापक तथा समन्वयवादी दृष्टि अपनाते थे और व्यवहारवादी होने का ही परिचय देते थे, कूप-मंडूकता से मीलों दूर .... खुले समुद्र में नौका-विहार करने वाले सैलानी की तरह फक्कड़ और अलमस्त।

आज शंकरदयाल सिंह के परिदृश्य से अकस्मात अनुपस्थित हो जाने से मुझे लगता है कि भाषा, साहित्य और राजनीति के बीच का एक संपर्क-सेतु ढह गया है। उनके स्थान पर फिलहाल ऐसा कोई व्यक्तित्व नजर नहीं आता जो ऐसे संपर्क-सेतु की भूमिका अदा कर सके। वह संसद में (और उसके बाहर भी) भाषा, साहित्य और राजनीति के अंतःसंबंधों/अंतर्विरोधों के एक प्रबल प्रवक्ता थे, अपनी तरह के विशिष्ट; भाषा, साहित्य और राजनीति के बीच मध्यस्थता करने वाले अपने ढंग के एक अद्वितीय संवादी।

बातचीत के दौरान अक्सर वाक्पटुता से काम लेते थे। उनके ठहाके भारतीय जिंदादिली की परंपरा को गुंजायमान कर देते थे। किसी भी बात को हंसकर कह देने की कला मैंने उनसे सीखी। उर्दू के एक शायर की पंक्तियां वह बार-बार सुनाया करते थे। पंक्तियां, अगर मुझे ठीक से याद हैं, तो इस तरह हैं :

तुम्हारी शान घट जाती?
या रुतबा कुछ कमा होता?
जो गुस्से में कहा तुमने,
वही हंसकर कहा होता!

❑

भारतीय कथा परंपरा

अरविंद मोहन

जिस दौर में प्रिंट मीडिया पाठकों तक पहुंच के मामले में इलैक्ट्रानिक मीडिया की मार से हाय-हाय कर रहा है, उस दौर में भी पुस्तक प्रकाशन, वितरण और नए पाठक तैयार करने के मामले में नेशनल बुक ट्रस्ट ने उल्लेखनीय काम किए हैं और कर रहा है। काम बढ़ने और जवाबदेही का भाव बढ़ने के साथ उसने अपने प्रकाशन के विषयों, भाषाओं और पुस्तकों की संख्या भी काफी बढ़ाई है। इसी क्रम में उसने *पंचतंत्र* और *कथासरित्सागर* के नए रूपांतर प्रकाशित किए हैं। उपनिषदों की कहानियां वह इनसे पहले छाप चुका है। संभव है जल्दी ही *जातक* कथाओं का प्रकाशन भी हो जाए।

हिंदुस्तानी जीवन में कथा साहित्य के कुल महत्व और कथा साहित्य में भारत की 'दादागिरी' को बताने के लिए *पंचतंत्र, जातक* और *कथासरित्सागर* पर्याप्त ताकतवर उदाहरण हैं। इनको जान-समझ लेने के बाद हम अपनी कथा परंपरा से तो परिचित हो ही जाते हैं, अपनी साहित्यिक विरासत को भी जान लेते हैं, जो शायद सर्वश्रेष्ठ रही है। और शायद यही कारण है कि धर्म, जीवन दर्शन, सामाजिक आचरण में एक हिंदू नजरिया न रखने के चलते भारत के संपर्क में आए विदेशियों को भले ही रामायण और महाभारत का उतना महत्व समझ में नहीं आया हो जितना कि हमारे जीवन में रहा है, पर उनको *पंचतंत्र, जातक* कथाएं और *कथासरित्सागर* सदा से काफी आकर्षक लगे। और भले ही भारत ही यहां के अपने लोगों के लिए 'डिस्कवर' करने की चीज हो, पर हम *पंचतंत्र* वगैरह को 'डिस्कवर' होते नहीं देखते।

बल्कि विंटरनित्स जैसे भारतविदों की यह घोषित राय है कि भारत वर्ष की संसार को सबसे मौलिक भेंट *पंचतंत्र* ही है। अगर तुलना में बहुत परेशानी न हो तो यह कहा जा सकता है कि *जातक* या *कथासरित्सागर* बहुत ही बिखरे और अपरिष्कृत रूप में हमारे समाज में सदा से मौजूद रहे हैं तथा आज भी इनके 'असली' रूप को लेकर विवाद मौजूद है। पर *पंचतंत्र* एक सुघड़ कृति है—कुछ भी फालतू नहीं, कुछ भी अनगढ़ नहीं। एक सूत्र में बंधकर भी किसी जाल की तरह बुनी कहानियों में अद्‌भुत ज्ञान की बातें तो हैं ही, साहित्यिक और रचनात्मक कौशल भी है। इसका जो सबसे प्रामाणिक रूप मिलता है उसमें मात्र एक छोटी कहानी भर दोबारा आई है और वह भी इस तरह गुंथी पड़ी है कि उसको निकालने से कथा बिखर जाएगी। खैर!

आज या पहले भी *पंचतंत्र* के मूल स्वरूप को लेकर कोई बहुत विवाद नहीं रहा है, पर इसकी आठ परंपराएं मानी जाती हैं और इनमें *कथासरित्सागर* के दोनों मुख्य स्वरूपों—क्षेमेंद्र और सोमदेव कृत—में आए इसके रूप भी शामिल हैं। महिलारोप्य नगर के दक्षिण में होने के कारण कई विद्वानों का दावा है कि असली *पंचतंत्र* वहीं का है। इन विभाजनों या परंपराओं में कथा या उनकी बुनावट का फर्क जितना बड़ा नहीं है, उससे ज्यादा बड़ा फर्क गद्य और पद्य वाले हिस्सों और उनके अनुपात का है। पर *कथासरित्सागर* वाले दोनों स्वरूपों में तो *पंचतंत्र* की कहानियां और उसका पूरा शिल्प बिखर गया है।

पंचतंत्र को भारत के बाहर की दुनिया ने भी काफी पहले 'डिस्कवर' कर लिया था—और यह खोज चूंकि पश्चिम के यूरोप में नहीं हुई थी, इसलिए चर्चा का स्वरूप दूसरा रहा—भारत को सांप, योगियों का देश बताने वाले अंदाज में तो नहीं ही। छठी सदी के मध्य में कभी ईरान के बादशाह खुसरो का हकीम बुर्जुए संजीवनी बूटी की तलाश में हिंदुस्तान आया तो उसे अमरत्व वाली वह काल्पनिक दवा तो नहीं मिली, पर ज्ञान की यह बूटी जरूर मिली जिसने और कितनों को अमर किया ही, खुद बुर्जुए को भी अमर कर दिया। अपने मुल्क लौटकर इस हकीम ने अपने बादशाह के लिए इस किताब का पहलवी भाषा में अनुवाद किया। यह मूल अनुवाद अब नहीं मिलता, पर इससे दूसरी भाषाओं में हुए अनुवादों ने ही पश्चिम के होश संभालने से पहले ही *पंचतंत्र* को पूरी दुनिया में फैला दिया था। पहलवी में किताब के आधार पर इसका अरबी अनुवाद आठवीं सदी में अब्दुल्ला-इब्न-उल-मुकफ्फा ने किया, पर शीर्षक दमनक और करकट के नाम से 'दिमनः और कलीलः' कर दिया। इससे पहले सीरियाई अनुवाद हो चुका था जो अब उपलब्ध नहीं है।

तेरहवीं सदी के मध्य में स्पैनिश में अनुवाद के साथ *पंचतंत्र* यूरोप पहुंचा। जल्दी ही लैटिन और हिब्रू भाषा में भी अनुवाद हुए। जान कपुआ के लैटिन अनुवाद की यूरोप में बहुत चर्चा हुई और उसी के आधार पर यहां की सभी प्रमुख भाषाओ में *पंचतंत्र* का अनुवाद हुआ। पर सबसे ज्यादा लोकप्रिय हुआ इसका जर्मन अनुवाद। 1570 में सर टामस नाथ ने अंग्रेजी में इसका पहला अनुवाद किया था जिसके कई संस्करण हुए। उल्लेखनीय है कि तब तक शेक्सपियर का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था। बारहवीं सदी से अरबी, फारसी, तुर्की जैसी मध्य एशियाई भाषाओं में इसके अनुवाद का नया क्रम शुरू हुआ। वहां की छोटी-छोटी भाषाओं तक में इसका अनुवाद हुआ।

पंचतंत्र में ऐसा क्या है कि यह इतना लोकप्रिय हुआ, यह बताने की बहुत जरूरत नहीं है। *पंचतंत्र* में धर्म नहीं है, इतिहास नहीं है, समाज का विवरण बहुत नहीं है, भूगोल का ज्ञान भी बहुत नहीं है, पर छोटे-बड़े हर आदमी के ध्यान में चढ़ जाने वाले अद्‌भुद नामधारी पशु-पक्षियों वाली कहानियों के माध्यम से व्यावहारिक जीवन में उपयोगी होने लायक नीतियों को पाठकों

तक पहुंचाना ही इसका उद्देश्य है। महिलारोप्य के शासक अमरशक्ति के बिगड़े बेटों उग्रशक्ति, बहुशक्ति और अनंतशक्ति को सही रास्ते पर लाने के लिए विष्णु शर्मा द्वारा रचित यह ग्रंथ अपनी कहानी के अनुसार तो इन तीनों को सुधारने में सफल रहा, पर इसने दुनिया भर में जितने लोगों की समझ और ज्ञान में वृद्धि की है, उतना बहुत कम किताबों ने ही किया होगा।

और जिस दौर में दुनिया भर में इस किताब के एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद हो रहे थे, उस समय भारत में भी इसके पांच-छह सौ वर्ष के बिखराव को समेटने और *पंचतंत्र* को 'झाड़-पोंछकर' चमकाने का प्रयास हुआ। *पंचतंत्र* की पश्चिम भारतीय परंपरा को आधार बनाकर पूर्णचंद्र ने पंचाख्यानग्रंथ रचा जो मूल *पंचतंत्र* की विस्तृत वाचना मानी जाती है। निर्णयसागर प्रेस और बंबई संस्कृत सीरीज में पश्चिमी *पंचतंत्र* और यह ग्रंथ उपलब्ध है। पर *पंचतंत्र* को उसके मौलिक रूप में प्रस्तुत करने का काम डा. एजर्टन नामक के विदेशी ने ही किया जो *पंचतंत्र रीकंस्ट्रक्टेड* नाम से पूना से प्रकाशित हुआ और इसके संस्करण उपलब्ध हैं। उन्होंने पूर्णचंद्र को ही आधार बनाया, पर उनके एक-एक शब्द को ठोक-बजाकर जांचा और गुप्तकालीन भाषा-व्याकरण की कसौटी पर कसा। इसके बाद *पंचतंत्र* का जो रूप सामने आया वह सचमुच कोहिनूर जैसा चमकदार था।

बाद में हिंदी में आए *पंचतंत्र* के विभिन्न संस्करणों, अनुवादों, रूपांतरों में डा. एजर्टन के काम को ही आधार बनाया गया और काफी पहले अपना कारोबार शुरू करने के साथ ही राजकमल प्रकाशन ने डा. मोतीचंद्र द्वारा अनूदित *पंचतंत्र* प्रकाशित किया था जो मूलतः निर्णयसागर प्रेस के संस्करण पर आधारित था। उससे पहले भी यह ग्रंथ हिंदी में उपलब्ध था, पर इसकी तारीफ बहुत हुई। *पंचतंत्र* के चुटीले संवाद, मजेदार नोक-झोंक को मुहावरेदार भाषा में प्रस्तुत करना इस अनुवाद की विशेषता थी। बाद में हिंदी पाकेट बुक्स ने भी जो छोटा और सिर्फ कथाओं वाला संस्करण छापा वह भी पर्याप्त दिलचस्प और अच्छा था।

पर इन सबकी चर्चा के बाद नेशनल बुक ट्रस्ट के संस्करण की चर्चा की शुरूआत में ही यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि यह विष्णु शर्मा का *पंचतंत्र* नहीं, भगवान सिंह की किताब *पंचतंत्र की कहानियां*[1] हैं। *पंचतंत्र* का कोई सस्ता, सुंदर और सुलभ संस्करण आज नहीं है, उसमें नेशनल बुक ट्रस्ट की यह पहल तो स्वागत योग्य है, पर उसने इतनी साफ-सुथरी और लगभग विवादरहित रूप में मौजूद पुस्तक के साथ भी इतनी छेड़छाड़ वाला संस्करण क्यों छापा, यह समझ से परे है। जिस किताब के रूप को लेकर पहले भी कोई बहुत विवाद नहीं था और जिसका लगभग सर्वमान्य रूप आ चुका है, उसे उसी रूप में, छोटे रूप में छापने की जगह इस रूप में छापना जरूर चौंकाता है।

'छेड़छाड़' शब्द का प्रयोग यों ही नहीं किया गया है। अब पुराने लेखक विष्णु शर्मा का परिचय नए लेखक भगवान सिंह 'शर्मा जी अस्सी के हो गए हैं, पर तबीयत से खासे रंगीन हैं' कहकर दें तो इसे और क्या कहा जाए! उन्हें शर्मा जी सवर्ण मानसिकता वाले भी लगते हैं। लेखक यह भी कहते हैं कि 'ज्ञान की सभी शाखाओं में इतना विकास हो चुका है कि इनको देखते हुए विष्णु शर्मा के समय का ज्ञान बहुत बचकाना लगता है।' उनके अनुसार विष्णु शर्मा ऐसी पाठशाला चलाते थे 'जिसमें गधों को घोड़ा और घोड़ों को आदमी बनाया जाता था।'

भगवान सिंह ने यह छोड़छाड़ अकेले 'पोपला मुंह और बूढ़ी काया' वाले अस्सी साल के पंडित विष्णु शर्मा के साथ ही नहीं की है, कहानी के मुख्य पात्रों महाराजा अमरशक्ति, उनके बेटों, दमनक, करकट और सैकड़ों पात्रों, कहानियों और उनकी व्याख्या में भी की है। इसलिए कई बार उन्हें अपनी कहानियों या *पंचतंत्र* की सीधी-सपाट और सुघड़ कथाओं की व्याख्या के लिए भी हिंदी फिल्मों का सहारा लेना पड़ता है तो कभी माइक जैसे नए उपकरणों का। यह सब प्रयोग अद्‌भुत ही कहा जाएगा क्योंकि दुनिया भर में लोकप्रिय होने और फैलने के लिए सैकड़ों वर्षों में *पंचतंत्र* को इस तरह की किसी 'मदद' की जरूरत नहीं पड़ी थी। नए लेखक ने अपनी पसंद और मर्जी के मुताबिक जहां-तहां राजा के कर्तव्य, सेवक के कर्तव्य टाइप व्याख्याएं भी दे दी हैं, और यही कारण है कि यह न सही अर्थ में बच्चों के पढ़ने लायक रह गया है, न बड़ों के। और अगर इसको खरीदने, पढ़ने का मन होता है तो *पंचतंत्र* नाम और उसकी अपनी ताकत के कारण ही जो इतनी छेड़छाड़ के बावजूद अपना आकर्षण नहीं गंवाता।

पंचतंत्र से एकदम उलट रूप में *कथासरित्सागर*[2] भारतीय लोकमानस में मौजूद रहा है। और यह एक विचारणीय सवाल है कि रामायण और महाभारत जैसा ऊंचा सिंहासन इसे साहित्य जगत ने क्यों नहीं दिया। यह सवाल भी कम महत्वपूर्ण नहीं है कि इसको *पंचतंत्र* की तरह 'डिस्कवर' क्यों नहीं किया गया या इसे विदेशों में उतनी लोकप्रियता क्यों नहीं मिली जबकि कहानियों की संख्या, उनकी विविधता और ग्रंथ के आकार के मामले में यह *पंचतंत्र* से कई गुना बड़ा है।

सातवाहन काल में प्राकृत या पैशाची भाषा में लिखी यह किताब संस्कृत साहित्य वाली कुलीन बिरादरी में भले ही 'आदर' न पा सकी हो पर आम लोगों की भाषा में होने के चलते लोगों के बीच तो जबर्दस्त रूप में लोकप्रिय रही है। यह ग्रंथ *पंचतंत्र* से 1000 वर्ष से लेकर 500 वर्ष तक पुराना हो सकता है, पर इसकी लोकप्रियता ऐसी हुई कि इसको संस्कृत में अनुवादित करना पड़ा। यह प्राकृत की ऐसी एकमात्र बड़ी किताब है जिससे संस्कृत में एक नहीं, अनेक अनुवाद हुए हैं। आज गुणाढ्य की किताब *मूल बृहत्कथा* तो नहीं मिलती, उसका पहला संस्कृत रूपांतर भी नहीं मिलता। यह रूपांतरण राजा दुर्विनीत ने छठी शताब्दी में किया था, लगभग *पंचतंत्र* वाले दिनों में ही।

गुणाढ्य कृत *बृहत्कथा* में भी उनके मूल सात लाख श्लोकों में से मात्र एक लाख श्लोक ही आ पाने की बात कही जाती है। कहा जाता है कि छह लाख श्लोकों को उन्होंने खुद ही जला डाला था। पर आज भले ही गुणाढ्य की अपनी रचना न उपलब्ध हो, पहला संस्कृत रूपांतर न उपलब्ध हो पर *बृहत्कथा* के अनेक रूपांतर उपलब्ध हैं—संस्कृत, प्राकृत दोनों में, हिंदू के साथ जैन परंपरा में भी। वसुदेव हिंदी-जैन परंपरा का रूपांतर है जिसमें मूल कथा के नायक कृष्ण को हटाकर उनके पिता वसुदेव को नायक बना दिया गया है। पर यही सबसे पुराना उपलब्ध रूप है जिसे संघदासमणि और धर्म दासमणि ने तैयार किया था।

पर आज हमें इस असंख्य कथाओं और अनगिनत रूपों वाले महाग्रंथ के जो दो सबसे 'साफ-सुथरे' रूप मिलते हैं, वे हैं क्षेमेंद्र कृम *बृहत्कथामंजरी* और सोमदेवकृत *कथासरित्सागर*। पहले माना जाता था कि ये दोनों लेखक एक हैं। 1871 में प्रो. बुहलर ने बताया कि ये दो थे और एक ही मूल ग्रंथ पर अपना-अपना काम कर रहे थे। नेशनल बुक ट्रस्ट के लिए संस्कृत के जानकार राधावल्लभ त्रिपाठी ने सोमदेव की रचना को ही आधार बनाकर कहानियां चुनी हैं। पर उन्होंने *कथासरित्सागर* के सबसे लोकप्रिय अंशों—बेताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी और मूर्खों की कहानियों को क्यों छोड़ दिया है, इसकी कोई सफाई नहीं दी गई है। कहना न होगा कि अठारह लंबकों और 124 तरंगों में बंटे इस ग्रंथ के ये अंश अपने अलग-अलग रूप में भी स्वतंत्र अस्तित्व बनाने में कामयाब रहे हैं और भारतीय मानस में सबसे गहरे पहुंचे हुए हैं। छापाखाना शुरू होते ही सबसे पहले ये ही अंश

अलग-अलग पुस्तकों के रूप में छपे।

सोमदेव की किताब को ही सबसे संवरा माना जाता है और इसलिए आम लोगों के पढ़ने के आग्रह से भारतीय परंपरा के इस सबसे लोकप्रिय, प्रभावी और बृहत् ग्रंथ को अगर नेशनल बुक ट्रस्ट छापता है तो सोमदेव की कृति को ही आधार बनाना उपयुक्त था। मूल एक लाख श्लोकों वाले ग्रंथ में से 22,000 श्लोक ही सोमदेव ने रखे हैं। त्रिपाठी ने इनको भी काफी छोटा कर दिया है और श्लोक एक भी नहीं दिया है—विद्वत्ता का रौब झाड़ने के लिए भी नहीं। सोमदेव ने कथा को लाख संभाला है फिर भी यह बिखर ही गई है। कई-कई कहानियां दो-दो तीन-तीन बार आ गई हैं। जाहिर है त्रिपाठी ने ऐसा नहीं होने दिया है।

कथासरित्सागर का यह पहला हिंदी रूपांतर नहीं है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है *सिंहासन* बत्तीसी और *बेताल पच्चीसी* वगैरह तो जाने कब से कितने रूपों में मिलते हों! निर्णयसागर प्रेस का बंबई संस्करण तो 1889 में ही निकाला था जो दुर्गाप्रसाद द्वारा तैयार किया गया था। और आजाद भारत में छपे इसके संस्करणों में केदारनाथ शर्मा सारस्वत द्वारा तैयार पटना संस्करण सबसे अच्छा और महत्वपूर्ण माना जाता है। और इसमें प्रसिद्ध विद्वान वासुदेवशरण अग्रवाल की एक विस्तृत भूमिका भी है जो *कथासरित्सागर* के उस समय के समाज और इतिहास पर विस्तार से प्रकाश डालती है।

नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किताब में भी ऐसी भूमिका दी जानी चाहिए थी। एक भूमिका है पर काफी छोटी और अपूर्ण किस्म की। कहानियों के इस महासागर की सिर्फ 53 मुख्य कथाओं को चुनकर प्रस्तुत करने में इस महाग्रंथ के 'उलझे तारों' को बहुत हद तक तोड़ दिया गया है। कई कहानियां आपस से जुड़ी हैं, पर न तो सारी कहानियां आई हैं न 248 पृष्ठों में *कथासरित्सागर* को समेटा ही जा सकता है। सो पुराने जाल को तोड़ने और चुनी हुई कहानियों को प्रस्तुत करते हुए एक विस्तृत भूमिका से उनको 'संभाला' जाना चाहिए था।

कथासरित्सागर ऐसा ग्रंथ है भी जिसे मात्र मनोरंजक कथाओं भर का संग्रह नहीं माना जा सकता। इसमें पूरा इतिहास है, नगरों के किस्से हैं, देश का भूगोल है, समाज है, समाज में औरतों की स्थितियों का जिक्र है। मनोविज्ञान तो है ही। ऐसे विद्वान भी कम नहीं हैं जो इसमें आर्य-द्रविड़ विभाजन के प्रमाण देखते हैं। तांबूल के प्रयोग जैसे प्रमाणों के आधार पर ग्रंथ की उम्र और समाज का निर्धारण हुआ है। दीनार का जिक्र, ताजिक लोगों का जिक्र बाहर से संपर्क को बताता है। सोमदेव शैव थे और उन्होंने सारी कहानी शिव द्वारा पार्वती को सुनवाई है।

पर गुणाढ्य के मूल को लेकर इतनी स्पष्टता नहीं है। उनकी भाषा भी संस्कृत नहीं थी। माना जाता है कि वह आगरा के निकट उपनगर में एक गैर-ब्राह्मण कुल में जन्मे थे और लाख अदल-बदल के बावजूद *कथासरित्सागर* पर प्राकृत या पैशाचिक परंपरा वाले असर भरपूर हैं, बल्कि विंटरनित्स जैसे विद्वानों का तो मत है कि इस ग्रंथ की काफी बातों पर बौद्ध असर साफ दिखता है। 72वें तरंग में तो खैर बौद्ध कथाएं ही हैं। पर वह बेताल की कथाओं पर ही बौद्ध असर मानते हैं। उनका मानना है कि कल्मष चरित्र वाली पत्नियों की कथाओं, जिनकी इस ग्रंथ में भरमार है, का उद्भव भी बौद्ध कथाओं से है। नागार्जुन की कहानी भी इसके कुछ रूपों में मिलती है।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि गुणाढ्य की 'बडकहा' के अनेक रूप उपलब्ध रहे हैं और इसकी कहानियां उनसे कहीं ज्यादा रूपों में भारतीय समाज और मानस में मौजूद रही हैं। अगर हम सातवाहन युग, जब इसकी रचना हुई, को पांचवीं सदी ई.पू. न मानकर पहली सदी भी मानें तो यही कहना होगा कि सोमदेव और क्षेमेंद्र, दोनों ने लगभग एक हजार वर्ष बाद इसको संग्रहीत करने, इसमें आई विकृतियों को दूर करने और इस झाड़-पोंछकर ठीक करने का काम किया। पर इनके पहले और बाद में भी इसके अनेक रूप रहे और अलग-अलग कहानियां या कहानी-समूह अपना अस्तित्व बनाए रहे। उनकी लोकप्रियता और असर के जिक्र करने की जगह यह नहीं है।

संभव है कि ऐसी कुछ कहानियां भारत आए विदेशियों या विदेश गए भारतीयों के माध्यम से विदेशों में पहुंची होंगी, पर पूरे ग्रंथ की चर्चा या अनुवाद विदेशों में नहीं हुए। वासुदेवशरण अग्रवाल मरी मछली के हंसने की कथा, राजकन्या और चोर की कथा वगैरह के विदेशी साहित्य में उपलब्ध होने को इसी तरह के छीजन का नतीजा मानते हैं, बाहर सबसे ज्यादा चर्चित बेताल कथाएं हुई और वहां के विद्वान *कथासरित्सागर* के संदर्भ में सबसे प्रमुखता से यही चर्चा करते हैं कि बेताल असल में क्या है और किस चीज का प्रतीक है!

शायद यही चर्चाएं कारण थीं कि 1824 में तो एच.एच. विल्सन ने *कथासरित्सागर* के पहले पांच लंबकों का कथासार 'ओरिएंटल क्वार्टरली मैगजीन' में छपवाया था और इस लेख ने काफी सारे पश्चिमी लोगों को कहानियों के इस अनजाने सागर में गोता लगाने को प्रेरित किया। प्रो. बुह्लर के चर्चित शोध की चर्चा पहले की जा चुकी है। 1862 में प्रो. ब्रोकहाउस ने विल्सन के लेख से प्रेरित होकर इस पूरे ग्रंथ का सार लिखा। इसी से चार्ल्स हेनरी टावनी को इसका अनुवाद करने की प्रेरणा मिली जो उन्होंने 1880-84 के दौरान पूरा किया। एमस्टर्डम के प्रो. स्मेअर ने भी इस ग्रंथ पर शोध किया और काफी लेख लिखे। एन.एम. पैजर ने भी लगभग इसी समय दस खंडों में इसका अनुवाद पूरा किया। मैजर का अनुवाद आज भी मोतीलाल बनारसीदास और टावनी का अनुवाद मुंशीराम मनोहर लाल के यहां से प्रकाशित हो रहा है।

पर अनुवाद हो या मूल, *कथासरित्सागर* का मतलब बड़े आराम से हजार दो हजार, पन्नों में पसर जाना रहा है। इसलिए भले ही इसकी कहानियां किसी न किसी रूप में हर भारतीय तक पहुंचती रही हैं, इसको पढ़ पाना शायद ही किसी आम आदमी के वश में था या रहा है। नेशनल बुक ट्रस्ट और राधाबल्लभ त्रिपाठी ने अगर यह काम संभव करवा दिया है तो इसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। ❑

---

1. **पंचतंत्र की कहानियां,** ले. : भगवान सिंह; मूल्य : 64 रुपये; पृ.सं. 346
2. **महाकवि सोमदेव विरचित कथासरित्सागर;** रूपांतर : राधावल्लभ त्रिपाठी; मूल्य : 55 रुपये; पृ.सं. 248

दोनों के प्रकाशक - नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली

बाल भारती

बच्चों का लोकप्रिय हिंदी मासिक

एक प्रति : 3.00 रुपये : वार्षिक : 30.00 रुपये

संपर्क :

व्यापार व्यवस्थापक

प्रकाशन विभाग

पटियाला हाउस

नई दिल्ली - 110001

बल्गारिया

असफल प्रेम की एक कथा

एमिलियान स्तानेव के बल्गारियाई उपन्यास पर

विनोद शर्मा

इसमें कोई शक नहीं कि अनुवादक दो भाषाओं के बीच पुल की भूमिका तो अदा करता ही है, दो संस्कृतियों के बीच साक्षात्कार का माध्यम भी बनता है और उसकी इस दोहरी भूमिका के कारण ही कालिदास, होमर, शेक्सपियर, टॉलस्टाय, सर्वेंतीज, हेमिंग्वे आदि रचनाकारों की अंतर्राष्ट्रीय ख्याति संभव हो सकी। हिंदी में अनुवाद के जरिए विदेशी संस्कृतियों की खोज की परंपरा काफी पुरानी है – लगभग सौ वर्षों से भी अधिक क्योंकि हिंदी के लेखकों तथा अनुवादकों ने 19वीं शताब्दी के अंतिम चरण में विदेशी साहित्य को हिंदी में उलथा करना शुरू कर दिया था। अंग्रेजी हुकूमत और गुलाम मानसिकता के दौर में स्वाभाविक ही था कि अनुवाद के लिए अंग्रेजी भाषा की कृतियों को ही चुना जाता किंतु कालांतर में धीरे-धीरे हिंदी के रचनाकारों और अनुवादकों के अध्ययन का दायरा विस्तृत होता गया और यूरोप तथा अन्य महाद्वीपों की अन्य भाषाओं की कृतियां हिंदी में उलथी की जाने लगीं।

प्रसिद्ध क्रांतिकारी कवि निकोवा वप्सारोव की कविताओं के छाया संग्रह *निकोला वप्सारोव की कविताएं* के जरिए सन् 1953 में रामविलास शर्मा ने हिंदी जगत का ध्यान बल्गारियाई साहित्य की ओर खींचा। तब से अब तक लगभग दो दर्जन बल्गारियाई काव्य संग्रह, कहानी संग्रह, उपन्यास और नाटक हिंदी में रूपांतरित किए जा चुके हैं। इस प्रकार बल्गारियाई साहित्य से हिंदी के रचनाकारों व अनुवादकों के साक्षात्कार का सिलसिला जारी है और इसी सिलसिले की नवीनतम कड़ी है—*आइूचोर*। बल्गारिया के मूर्धन्य कथाशिल्पी एमिलियान स्तानेव का यह प्रसिद्ध उपन्यास मूल बल्गारियाई भाषा में सन 1948 में प्रकाशित हुआ था और इसके प्रकाशित होते ही एमिलियान स्तानेव साहित्य प्रेमियों की चर्चा के केंद्र में आ गए थे।

आइूचोर में प्रथम महायुद्ध की पृष्ठभूमि में कर्नल मिखाइल की पत्नी एलिजाबेथ और सर्बियन युद्धबंदी ईवो ओब्रेतेनोविच की प्रणय कहानी कही गई है। बल्गारिया की तत्कालीन राजधानी तर्नोवो के एक उपनगर के इतिहास में सिमटी हुई सन 1918 की इस प्रेम कहानी को कर्नल का पड़ोसी स्कूल टीचर पेत्रोव अपने भूतपूर्व शिष्य कोल्या को सुनाता है, जो अपने पिता के अंगूरों के बाग को बेचने कई वर्षों बाद तर्नोवो के उसी उपनगर में लौटकर आता है, जिसे उसने सन 1918 में बारह वर्ष की अवस्था में छोड़ दिया था।

आइूचोर की कहानी दिलचस्प है मगर उसका अंत प्रेमी की हत्या और प्रेमिका की आत्महत्या में होता है इसलिए उपन्यास पढ़ने के बाद एक कचोट-सी पाठक के मन में रह जाती है। सन 1918 में कर्नल, तर्नोवो में कमांडेंड था। रसद, खाद्य भंडार व युद्धबंदियों की देखरेख का दायित्व कर्नल पर था। वह रूमानिया के कैदियों को तुच्छ समझता था और सर्बों से घृणा करता था क्योंकि सन् 1913 में तुर्की तथा सर्बिया के विरुद्ध लड़ते हुए घायल होकर वह अपाहिज हो गया था और एक पैर से लंगड़ाने लगा था। पचास वर्षीय तगड़े, मगर छोटी गर्दन वाले कर्नल से लोग डरते थे। उसने अपनी सुंदर काटेज व दो एकड़ जमीन में पसरे अपने अंगूरों के बाग की देखरेख के लिए एक अर्दली रखा हुआ था जो बिना किसी बहस के अपने मालिक के आदेशों का पालन करता था। पहले कर्नल तर्नोवो में रहता था किंतु तर्नोवो में भयानक ज्वर (टाइफस) के प्रकोप से घबराकर वह तर्नोवो के उपनगर में रहने चला आया। एक किसान की स्त्री सुबह का नाश्ता बनाने कर्नल की काटेज में आती और दोपहर का खाना बनाकर घर चली जाती थी। उसका नाम था मरिओला। रोज सुबह फिटिन कर्नल को तर्नोवो ले जाती और लंच के लिए घर वापस लाती। लंच के बाद कर्नल काम पर वापस चला जाता और फिर शाम को सूर्यास्त के समय लौटकर आता। दोपहर को रोज अर्दली पानी लेने जाता था। उसे कहीं दूर जाना पड़ता था क्योंकि आसपास के इलाकों में सूखे की वजह से पानी के स्रोत सूख गए थे। यही समय होता था जब कर्नल की पत्नी काटेज में अकेली रह जाती। ऐसे थकान और अवसाद भरे लंबे समय को एलिजाबेथ बरामदे में बैठकर सिलाई करते हुए या कुछ पढ़ते हुए काटा करती। गहरी, नीली, बड़ी-बड़ी आंखों, सुनहरे बालों और सुडौल गोरे हाथों वाली उसकी चालीस वर्षीय देह में ग्रीष्म का थकान भरा लावण्य था। उसका वैवाहिक जीवन सुखी नहीं था। वह निःसंतान थी और मोटी लाल गर्दन वाले बुढ़ा रहे अपने पति से घृणा करती थी।

उधर कर्नल भी परेशान था। युद्धबंद्धियों को संभालना दुष्कर कार्य था। युद्ध के लगातार बिगड़ते हालात तथा किसानों और सिपाहियों में असंतोष और विद्रोह के उदय से वह त्रस्त था। लूटमार और चोरी की वारदातें निरंतर बढ़ती जा रही थीं। महामारी, अकाल, युद्ध और लाचारी ने मनुष्य को दुःसाहसी, निर्लज्ज और अनैतिक बना दिया था। रसद की कमी व तर्नोवो में बल्गारिया के खाद्य भंडारों से जर्मन सैनिकों व अफसरों को मांस, चर्बी व अंडे देते रहने की विवशता से कर्नल हताश हो चुका था।

एक दिन एलिजाबेथ ने अपने बाग में एक अजनबी को आड़ू चुराते हुए पकड़ लिया। वह सांवला, दुबला-पतला आड़ूचोर एक सर्वियन युद्धबंदी था। यहां से कहानी में एक मोड़ आता है। एलिजाबेथ उस आड़ूचोर (ईवो ओब्रेतेनोविच) को दिल दे बैठी। दोनों छुप-छुपकर मिलने लगे और प्यार की भूल-भुलैया में खो गए। एक रात कर्नल की अंगूरों की दो बेलें चोरी हो गईं। चोरी का पता चलने पर उसने टाउन हाउस से बंदूक लाकर अर्दली को दी और हुक्म दिया कि अगर कोई आदमी अंगूरों के बाग में दिखाई दे तो गोली मार दी जाए। उधर एलिजाबेथ अपने प्रेमी के साथ भागकर एक नई दुनिया बसाने का संकल्प कर चुकी थी। योजनानुसार सितंबर की एक चांदनी रात में ईवो अपनी प्रेमिका को लेने आया और हमेशा की तरह सीटी की आवाज से उसने एलिजाबेथ को अपने आने की सूचना दी। प्रत्युत्तर में उसकी प्रेमिका तो नहीं आई मगर एक गोली जरूर चली जिसने ईवो की जान ले ली। अगली सुबह एलिजाबेथ ने कर्नल की पिस्तौल से गोली मार कर आत्महत्या कर ली।

अपने उपन्यास *आइूचोर* में उपन्यासकार ने एक विवाहिता स्त्री और एक अविवाहित युद्धबंदी के असफल प्रेम की कहानी के जरिए विवाह के नाम पर अनचाहे रिश्ते को ढोने की विवशता को तो उकेरा ही है, पुरुष-प्रधान समाज में औरत की नियति की ओर इशारा भी किया है। एमिलियान स्तानेव ने घटनाओं और चरित्रों को बड़े मनोयोग से सिरजा है और एलिजाबेथ की ऊब व घुटन, युद्ध के दुष्प्रभावों तथा प्यार की अनुभूति से एलिजाबेथ के

व्यक्तित्व में आए परिवर्तनों का चित्रण कलात्मक और प्रभावशाली ढंग से किया है। उपन्यास की शैली सहज, सुबोध एवं लालित्यपूर्ण है। उपन्यास बल्गारियाई भाषा से हिंदी में उलथा किया है – विमलेश कांति वर्मा और धीरा वर्मा ने। अनुवाद प्रेम और आस्था से किया गया है मगर चूंकि दोनों विशुद्ध अनुवादक हैं इसलिए *आइचोर* की भाषा कहीं-कहीं लड़खड़ाती प्रतीत होती है। भूसंपत्ति, कृमिनाशक, अनुष्ठान-पद्धति जैसे शब्दों का प्रयोग शब्दशः अनुवाद के यत्न की ओर संकेत करता है। दरअसल साहित्य के अनुवाद की सफलता, अनुवादक के स्वयं साहित्यकार होने पर भी निर्भर करती है बनिस्बत उसके महज भाषाविज्ञानी के। इसलिए साहित्य का अनुवाद यथासंभव रचनात्मक साहित्यकार को ही करना चाहिए। फिर भी अनुवादक बधाई के पात्र हैं। ❑

आइचोर : एमिलियान स्तानेव; अनुवादकः विमलेश कांति वर्मा/धीरा वर्मा; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली; मूल्य 30 रुपये; पृष्ठ संख्या : 69

बर्मी

सामाजिक विसंगतियों का लेखा

मुक्ता

'हज्जाम का धंधा करते रहने पर उसे एक आदत पड़ गई थी और अब अपनी नई नौकरी में उसे एक कमी खटकने लगी थी। हज्जाम के नाते हजामत बनाते समय हजामत बनाने वालों से वह दिल खोलकर तरह-तरह की बातें कर लिया करता था। लेकिन और तो और, यहां अपने मजदूर साथियों से बात करना तक असंभव था। यहां जो भी यूरोपियन सूखे पत्ते पर चलते हुए जल-क्रीड़ा के लिए आते, उससे न ही वे बात करते और न ही इस बात का ध्यान रखते कि उनके निकट कोई दूसरा भी है। उनके लिए वह अंधा और बहरा था। गोरी खाल वाली औरतें लगभग नंग-धड़ंग हो उसके सामने उछलती-कूदती फिरती थीं। डाइव लगाती थीं। पहले-पहल उसकी आंखों तथा कानों को शर्म-सी महसूस होती थी।' यह प्रसंग पांच सितारा संस्कृति का एक नमूना है। तथाकथित सर्वोच्च धारा से जुड़ा हुआ यह वर्ग सभी एशियाई मानसिकता को अंधा और बहरा सिद्ध करने में समर्थ है। यह त्रासदी भारत, बर्मा या किसी भी एशियाई देश की हो सकती है। प्रसिद्ध बर्मी लेखक ऊ तेंः फेम्यि की कहानी 'अनिष्ट ग्रह' का यह वाक्य इसीलिए भारत की उपजाऊ भूमि में अंकुरित् हुआ प्रतीत होता है। यह दो देशों के तुलनात्मक अध्ययन का प्रयास नहीं हैं वरन् इस कहानी संग्रह में अभिव्यक्त पात्रों की सामाजिक एवं संस्कारगत उलझनें, अभिव्यक्ति के उपक्रम, प्रतिक्रियाएं, बोलचाल, यहां तक कि हंसने और सहसा चुप हो जाने का ढंग यह साबित करता है कि ये कहानियां आयातित नहीं हैं बल्कि हमारी अपनी मिट्टी से जुड़ी हैं। हमारे घर-परिवार के ही किसी व्यक्ति की आपबीती हैं। केवल पात्रों के नाम बदल दिए गए हैं।

क्रांतिकारी लेखक तेंः फेम्यि का बर्मा के साहित्य और राजनीति में अपना महत्व रहा है। किसी समय बर्मा के प्रधान मंत्री ऊ नु ने इनसे प्रार्थना की थी कि आप बर्मी साहित्य की खातिर, राजनैतिक क्षेत्र छोड़कर, केवल साहित्यिक क्षेत्र में आएं। परंतु उनका उत्तर था कि जब तक बर्मी समाज

पृष्ठ 64 पर जारी

जर्मन

जीने के हक का परचम

ऐरिष फ्रीड का काव्य संसार

जर्मन कविता का जिक्र आते ही हमें योहान् बाल्फगांग फन् गेटे का खयाल आता है। गेटे की अंतर्राष्ट्रीय ख्याति जिरह के दायरे में नहीं आती – कालिदास, होमर, शेक्सपियर, दांते की मानिंद। उनके बाद की जर्मन पीढ़ी के कवियों में हाइनरिष हाइने ने अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की। सन 1856 में हाइने की मृत्यु के बाद, जर्मन काव्यधारा क्षीण होने लगी और 1880 तक अत्यंत क्षीण हो गई। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों में जर्मन कविता को नया जीवन मिला। इस काल में नई प्रतिभाओं का उदय हुआ। इस काल को कुछ आलोचक जर्मन कविता का 'रिनेसां पीरियड' मानते है। बीसवीं सदी के प्रथम महत्वपूर्ण दशक में जर्मनी के महान आधुनिक कवि राइनर मारीया रिल्के का प्रथम महत्वपूर्ण काव्य संग्रह प्रकाशित हुआ। सन् 1910 में पाल हेस को तथा 1912 में गेरहार्ट हाप्थयान को नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया। *आधुनिक जर्मन कविता - 1910-1960* नामक काव्य संग्रह के संपादकों—माइकल हैंबर्गर और क्रिस्टोफर मिडलटन—के मतानुसार दूसरे दशक के प्रारंभ में ही जर्मन कविता ने आधुनिक दौर में प्रवेश किया। कवि ऐरिष फ्रीड का जन्म सन 1921 में हुआ। उस समय रिल्के अपनी सृजनशीलता के चरमोत्कर्ष के निकट पहुंच रहे थे। वह अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित कर चुके थे और उनके मानववाद और कारुण्य से दुनिया के अनेक कवि प्रभावित हो चुके थे। सन् 1917 में रूस में बोल्शेविक क्रांति हो चुकी थी। सन 1921 तक पहला महायुद्ध समाप्त हो चुका था और जर्मनी में नाजीवाद का बीज पनपने लगा था।

दो महायुद्धों के बीच जन्मी ऐरिष फ्रीड की पीढ़ी, युवावस्था तक पहुंचते-पहुंचते दूसरे महायुद्ध की विनाशलीला, नाजीवाद के भयावह अंत और हिरोशिमा तथा नागासाकी की त्रासदी देख चुकी थी। ऐरिष फ्रीड के मन में युद्ध और नाजीवाद के प्रति अपार घृणा थी। नाजीवाद के दौर में यातना शिविरों में उनके पिता और अनेक रिश्तेदारों की मृत्यु हुई और 17 साल की उम्र में उन्हें स्कूल की पढ़ाई छोड़ विस्थापित के रूप में लंदन में शरण लेनी पड़ी। अतः कविता की दुनिया में आकर उन्होंने स्वयं को 'बुर्जुआ निश्चिति' का खंडन करने का साहस दिखाने वाले व प्रतीकवादी काफिर कवि रिल्के के बजाय, बुर्जुआ समाज से घृणा करने वाले सामाजिक व राजनीतिक प्रतिबद्धता के वामपंथी अभिव्यंजनावादी कवि बेर्टोल्ट ब्रेख्त की काव्य परंपरा से जोड़ा। शुष्क बोलचाल की भाषा वाली लेकिन भावाविष्ट कविता लिखने में सिद्धहस्त ब्रेख्त की तरह, फ्रीड भी अक्सर सपाट भाषा का ही प्रयोग करते हैं और छुरी की धार भी देते हैं। यहां यह कहना जरूरी है कि फ्रीड की तुलना में ब्रेख्त की कविता का लोक ज्यादा बड़ी है और धार ज्यादा पैनी।

यह आकस्मिक नहीं कि आलोच्य संग्रह की कविता 'फांसी' की आरंभिक पंक्तियां – *तीन पेड़ों को कानूनी तौर पर मुजरिम पाया*

गया/परदेसियों को अपने पत्तों के नीचे पनाह देने के बतौर—ब्रेख्त की कविता 'शाश्वतता के लिए' की मशहूर पंक्तियां (*क्या जमाना है/कि पेड़ों के बारे में बातचीत करना भी/करीब-करीब जुर्म हो गया है/क्योंकि उसमें कई कुकर्मों के बारे में चुप्पी भी शामिल है)* की याद दिलाती है। ब्रेख्त की उक्त कविता में 'जुर्म कही जाने वाली बातचीत' पर जर्मनी के प्रमुख अतियथार्थवादी कवि पाल सेलान ने 'अतिस्पष्टता' का आरोप लगाया—अपनी कविता 'ए लीफ ट्रीलेस' में। सेलान से फ्रीड की अक्सर तुलना की जाती है। दोनों समकालीन थे। तुलना की वजह यह है कि दोनों कवि भाषा के प्रयोग में एक जैसी कठिनाइयां महसूस करते हैं। मगर फ्रीड की कविता की भाषा में सेलान की भाषा की मांत्रिक सिद्धि नहीं है। वह मानते हैं कि कला का काम है समाज के प्रति असंबद्धता या उदासीनता के विरुद्ध लड़ना। वह कविता में भाषा की प्रकृति की तलाश करते हैं, खासकर उन कविताओं में जिनमें उनका प्रतिवाद मुखरित होता है।

कहते हैं कि रिल्के ने जितनी बार अपनी कविताओं में 'समान' या 'सदृश' शब्द का प्रयोग किया है उतनी बार शायद ही किसी अन्य महान कवि ने किया हो। यह इसलिए कि रिल्के की कविताओं में उपमाएं महत्वपूर्ण भूमिकाएं निभाती हैं। फ्रीड की एक ही कविता में एक ही शब्द कई बार आता है मगर हर बार एक नई परिभाषा के साथ। मसलन 'बीमार' कविता की ये पंक्तियां – *जो उनसे डरने को राजी है/जो उसे बीमार कहते हैं/और जो उसे बीमार कहते हैं/और जो उसे बीमार बनाना चाहते हैं/वह बीमार है।* या 'बीमार - दो' की ये पंक्तियां—*जो खुद को नैतिकता का पोप और प्यार का विधान देने वाला/जताया करता है/वह बीमार है पोप की ही तरह।* इसी तरह वह 'पनाह' में 'छिप', 'पीछे' व 'पड़कर' शब्दों को नौ-नौ बार दोहराते हैं मगर एक ही अर्थ में। 'हिंसा' में 'हिंसा' 21 बार, दलित में 'डर' 26 बार आता है, नई-नई परिभाषाओं के साथ। फ्रीड, सेलान की भांति 'खौफ के कवि' नहीं है। किंतु 'दमित', 'खुले बाजार में', 'कोई गाता है,' 'समीकरण' आदि कविताओं में वह डर की अनेक आकृतियां उकेरते हैं। नाजीवाद की प्रेतिल छाया से ग्रस्त अपने बचपन को वह कभी भूल नहीं पाए। उन्हें याद आता है वह बच्चा जो गैस चेंबर तक ले जाया जा रहा था – *फिर मुझे सिर्फ वह दिखाई देता है/और मवेशियों की वह गाड़ी/और वह बच्चा* (हू ब हू तस्वीर)। दादी की याद आते ही वह कल्पना करने लगते हैं – *कैसे तूने/अपनी मौत का बखान किया होगा/यातना शिविर में/मुझे पता नहीं* (दादी अम्मा)। नाजीवाद के दौर में 'जबान खोलने की आजादी' की 'कीमत' क्या थी, इसका पता हमें चलता है उनकी कविता 'जबान खोलने की आजादी' से—*क्या क्या निकलता जाता है/उन जबानों से जो बंद समझी जाती हैं/पहली बात कि चीख/दूसरी बात कि शुरू और/बिल्कुल आखिर में/शायद मुखालफत तक/तीसरी बात दांत/और चौथी बात खून पांचवीं/कै .....।*

फ्रीड जीवट और जिजीविषा के कवि हैं। संग्रह के आरंभ में संकलित अपने निबंध–'मेरी मौत के पहले के आखिरी दौर में ...' में वह स्वीकार भी करते हैं—"मुझे जिंदगी से हमेशा प्यार रहा है। ..... और मरने की मजबूरी से असंतोष भी, भले ही वह आखिरी घड़ी में बेकार हो, जरूरी और एक अच्छी बात है, ताकि आखिरी दम तक जीने के हक के परचम को फहराते रहा जा सके।" वह कुछ भूलना चाहते हैं (भूलने के खिलाफ) यह जानते हुए कि भूलने के अनेक फायदे भी हैं – *और अगर तुम अपनी दो बहनों को भूल सके होते/कब्रगाह का रास्ता कहता है/और अगर तुम चीखों को भूल चुके होते/दोनों कान कहते हैं/फिर तुम खतरे में पड़ने का सिलसिला खत्म कर चुके होते* (भूलने का हुक्म)। इस कविता में निर्वासन की पीड़ा भी झलकती है – *फिर तुम कहीं दूर जा सके होते/जहाज की पेटी में पड़े खजूर की तरह/जिसे तोड़ा गया हो और जो अपने पेड़ से आजाद हो/फिर तुम आजाद हो सके होते हवा में उड़ती धूल की तरह/आखिरकार मादरे-वतन से आजाद/जिसे तुम खो चुके हो।*

नाजीवाद के दौर में, जर्मन कवियों की दो पीढ़ियों के कवियों को निर्वासन की पीड़ा झेलनी पड़ी। एक वह जिसने नाजीवाद को जन्म लेते-पनपते और जवान होते देखा, यानी ब्रेख्त की पीढ़ी, और दूसरी वह जो नाजीवाद के दौर में जन्मी, पली और जवान हुई यानी फ्रीड की पीढ़ी।

ऐरिष फ्रीड संवेदनशील, अनुभवसंपन्न व मानवीय मूल्यों के पक्षधर कवि हैं। अपनी अनेक कविताओं में वह हथियारों की बढ़ती हुई ताकत (अनुजों के वक्त में), युद्ध की विभीषिका (भविष्य), हिंसा के राज (हिंसा), इतिहास की प्रामाणिकता (इतिहास के फरिश्ते), जिंदगी की कीमत (सवाल), सत्ताधारी के दाव-पेंच (सत्ताधारी की चिंता), फासिज्म के खतरे (जिंदा बचने वाले) आदि अनेक महत्वपूर्ण मुद्दों को उठाते हैं, जिनसे हमें जिंदगी तथा समाज व राजनीति से उसके रिश्तों को समझने में मदद मिलती हैं। जुल्म और अमानवीयता के खिलाफ आवाज उठाने वाले कवि फ्रीड, अपनी कविता 'सिंहावलोकन' में हमें अपनी आकांक्षा के बारे में बताते हैं – *मैं चाहता था/अपने वक्त की लपट बनना/या फिर हिस्सा उसकी लपट का .....। मैं चाहता था/अपने वक्त का परचम बनना/या एक/चीथड़ा परचम का।* उनकी कविताओं में भय और हताशा के साथ-साथ जिंदगी की गर्माहट और उम्मीद की चमक भी है – *पर बगावत ले जाती है मौत तक/यानी कि मौत तक/पर बगावत के बिना/हमदर्दी के बिना/प्यार के बिना/क्या रह जाती जिंदगी?* (खामोशी)। कविता लिखते हुए फ्रीड कविता के जरिए जिंदगी और उसके अंतर्विरोधों को समझना और समझाना चाहते हैं। यही वजह है कि अपनी कविताओं में वह युद्ध, प्यार, जीवन, खेल, हिंसा, डर, अन्याय, कविता यहां तक कि भाषा तक को परिभाषित करते हुए प्रतीत होते हैं – *एक कवि वह होता है/जिसे लब्ज/किसी हद तक/जोड़कर साबुत बनाते है/अगर उसकी किस्मत अच्छी हो/अगर उसकी किस्मत बुरी हो/तो यही लब्ज उसे/फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं।* संग्रह में कुछ अच्छी प्रेम कविताएं भी हैं।

संग्रह की भूमिका में अनुवादक ने कवि के प्रारंभिक जीवन, उसके सरोकारों, उसकी सोच, कविता एवं भाषा तथा कवितानुवाद के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी देते हुए सारगर्भित टिप्पणियां की हैं। अनुवाद के दो मुख्य रूप माने जाते हैं : (क) शाब्दिक अनुवाद और (2) मुक्त अनुवाद। आदर्श अनुवाद की स्थिति इन दोनों के बीच में है। फ्रीड की कविताओं के हिंदी रूपांतरों को पढ़कर कहा जा सकता है कि अनुवादक का ध्यान उक्त आदर्श पर केंद्रित रहा है। वह कवितानुवाद को लक्ष्य भाषा में समांतर कविता की रचना का सृजनात्मक दर्जा देने का पक्षधर प्रतीत होता है। भूमिका में वह कहता है - 'फ्रीड का आकर्षण मेरे लिए कवि के रूप में है। इसलिए मैं दस्तावेज नहीं बल्कि कविता पेश करना चाहता था।' यह विडंबना ही है कि अनुवादक सन 1979 से 1990 तक पूर्वी जर्मन अंतर्राष्ट्रीय प्रसारण के हिंदी विभाग का अध्यक्ष रहा है, फिर भी, आलोच्य कविता संग्रह में उसने खोवें, बनावें, मन आवे, समझ भी ले सकता है, लग जा सकता है, खोल धरा था, गुदे को, बोधज्ञान, जैसे अटपटे शब्दों, शब्द-समूहों या वाक्यांशों का इस्तेमाल किया है और व्याकरण की लिंग संबंधी (पृष्ठ 45, 110, 132, 139) भूलें भी की हैं।

– वि. श.

वतन की तलाश : ऐरिष फ्रीड; अनुवादक : उज्ज्वल भट्टाचार्य; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, मूल्य : सौ रुपये; पृष्ठ संख्या : 150

मनुष्यता के सच की तलाश

विद्यानिधि

सन् 1919 में छपा था *डेमियान*। जितना चर्चित हुआ, उतना विवादास्पद भी। खुद हेर्मन हेसे के लिए वह जीवन का महत्वपूर्ण मोड़ था। हेर्मन हेसे एक सुविख्यात जर्मन कथाकार और कवि ही नहीं, एक चिंतक भी थे। 1916 से पहले उनके सरोकार अपने जीवन और लेखन तक सीमित थे, परंतु प्रथम विश्वयुद्ध ने उन्हें झकझोर दिया था। उन्होंने युद्धकालीन जर्मनी को समझना चाहा, उसके मानसिक द्वंद्वों और वैचारिक अंतर्विरोधों की पड़ताल की। मनुष्य युद्ध क्यों करता है? विनाश उसे सुख क्यों देता है? वह राष्ट्रीयता के उन्माद में इतना ग्रस्त कैसे हो जाता है कि मानव का दुश्मन बन जाता है? मनुष्य आखिर है क्या?

इन्हीं बुनियादी प्रश्नों पर हेर्मन हेसे ने *डेमियान* उपन्यास के बहाने विचार किया। 'कोई विनाश नहीं होगा, कोई भूचाल नहीं आएगा, कोई क्रांति नहीं आएगी। युद्ध होगा। लोगों को बड़ा आनंद आएगा। उनकी जिंदगी में इतनी अधिक नीरसता आ चुकी है'—डेमियान का यह कथन युद्ध की मानसिकता पर सीधा प्रहार था। बदले में हेर्मन हेसे को भी राष्ट्रीयतावादी बुद्धिजीवियों के प्रहार झेलने पड़े। देश के सामूहिक-सैन्यवादी उन्माद ने उन्हें देशद्रोही तक कह डाला।

यह हेसे के लिए आध्यात्मिक संकट का समय था। उन्होंने युद्ध को मूल्यों के व्यापक संकट के रूप में समझा और मनुष्यता के सत्व की पहचान की। उपन्यास की भूमिका में उन्होंने लिखा कि यह उनकी अपनी कहानी है— जीते-जागते मनुष्य की कहानी, जो प्रकृति का एक मौलिक और मूल्यवान प्रयोग है और जिसे थोक के भाव गोली से उड़ाया जा रहा है। सबसे बड़ी ट्रेजेडी तो यही है कि लोग मनुष्य होने के अर्थ को ही नहीं जानते हैं :

'बहुत कम लोग जानते हैं कि मनुष्य क्या है। अधिकांश तो इसके विषय में कुछ जाने बिना ही चले जाते हैं।.....इनमें से कुछ लोग कभी मनुष्य नहीं बनते, कुछ मेंढक बन जाते हैं, कुछ छिपकली और कुछ चींटी बन जाते हैं। कुछ कमर से ऊपर मनुष्य होते हैं और नीचे मछली।'

मनुष्यीकरण की इस प्रक्रिया का आरंभ बाल-सुलभ अबोधता से होता है। पाप-पुण्य, नैतिकता, धर्म, संस्कृति और मानवीय आदर्शों के सवाल कभी व्यक्ति को भयंकर अपराध-बोध देते हैं, तो कभी पलायन को विवश करते हैं। इन दोनों स्तरों के बीच एक तीसरा स्तर भी है—आस्था या विश्वास का। इसी स्तर पर मनुष्य तमाम संघर्षों के बीच सच्ची मनुष्यता तक पहुंच सकता है। यही *डेमियान* उपन्यास का आधार है।

एमिल सिनक्लेर मनुष्यीकरण की इसी प्रक्रिया से गुजरता है। उसका बचपन, माता-पिता की उजली दुनिया से जुड़ा है। यह पवित्रता, कर्तव्य, कनफेशन (पाप-स्वीकार), आत्म-नियंत्रण और अनुशासन की 'भली' दुनिया है। एमिल इस दुनिया में जीता जरूर है पर उसे आकृष्ट करती है—एक दूसरी दुनिया। पाप और शैतान की, दुराचार और पतन की यह दूसरी दुनिया हिंसक, और अंधेरी भले ही हो, रोमांचक भी है और उजली दुनिया का विकल्प भी।

एमिल एक झूठ बोलता है। एक निहायत गैर-जरूरी झूठ। लेकिन अपराध का गहरा बोझ लिए यह झूठ उसे फ्रांत्स, क्रोमर की अंधेरी दुनिया में नीचे, और नीचे ले जाता है। उसे बचाता है—मैक्स डेमियान। डेमियान के बारे में कोई कुछ नहीं जानता। न उसका धर्म, न अतीत। उसके बारे में सिर्फ अफवाहें हैं—अधर्मी होने की, अपनी ही मां का प्रेमी होने की। पर यही डेमियान एमिल की आत्मा बन जाता है, उसे व्यर्थ निष्फल जीवन से मुक्ति दिलाता है। दोनों के बीच एक अजीब नजदीकी रिश्ता बन जाता है, इतना नजदीकी कि दूरी होने पर भी इच्छाशक्ति द्वारा पास पहुंचा जा सकता है। वस्तुतः डेमियान के रूप में ही एमिल अपने अंतर्मन, अपनी नियति, अपनी प्रेरक अंतरात्मा को पहचानता है। चाहे संगीत हो, या बेयाट्रिस की तस्वीर या 'पक्षी' का कुलचिह्न, एमिल सभी में अपनी अंधेरी आत्मा को सुनने का प्रयास करता है। ईश्वर, धर्म, नैतिकता के दोहरे मूल्यों को पहचानने में डेमियान उसकी मदद करता है। वह कहता है :

'बात है ईश्वर की । ..... वह भला है, बड़े हृदय वाला है, पिता जैसा है, सुंदर और ऊंचा है, भावुक है, ठीक है। मगर दुनिया तो दूसरी चीजों की भी बनी है। और वह सब शैतान के नाम के साथ जोड़ा जाता है। दुनिया के इस दूसरे हिस्से को लगातार दबाया जाता है, चुप रखा जाता है। इसका जिक्र भी नहीं किया जा सकता।'

एक तरफ ईश्वर को पिता मानना, दूसरी तरफ सैक्स से संबधित जीवन को पाप और शैतानी मानना—यह धर्म का दोहरापन है, जिसे डेमियान मानने को तैयार नहीं। वह एक ऐसा ईश्वर चाहता है जो शैतान को भी आत्मसात कर सके, जिसके सामने व्यक्ति को उस समय आंखें न मूंदनी पड़ें, जब दुनिया की बेहद प्राकृतिक घटनाएं घट रही हों। ईश्वरीयता और शैतानीपन—इन दोनों के बीच सामंजस्य बिठाते हैं हेर्मन हेसे। परस्पर विरोधी शक्तियों के बीच संगति बिठाने की यह कोशिश महत्वपूर्ण है और भारतीय चिंतनधारा से प्रभावित है।

1922 में रचे गए उनके *सिद्धार्थ* उपन्यास में दो 'विश्व' के बीच मुक्तिदायक संश्लेषण का रास्ता ही खोजता है सिद्धार्थ। दो कूलों के बीच बहती उस नदी की तरह। एक मांझी के रूप में लोगों को नदी पार ले जाना और ले आना ही जीवन के सत्व को पाना है। वह गोविंद को बताता है कि हर सच का उलटा भी उतना ही सच होता है। सच को शब्दों में तभी बताया जा सकता है जब वह एकतरफा हो। सोची गई और शब्दों में बताई गई हर बात एकतरफा होती है। वह आधा सच होती है। उसमें पूर्णता और एकता का अभाव होता है।

यही वजह है कि बुद्ध को धर्मोपदेश देते वक्त जगत को संसार और निर्वाण में, माया और सत्य में, दुख और मुक्ति में बांटना पड़ा। उसके बिना सिखाना संभव न था। किंतु जगत एकपक्षीय नहीं। कोई मनुष्य या कोई कर्म न तो पूर्णतः संसार है, न निर्वाण। न ही कोई मनुष्य पूर्णतः साधु हो सकता है, न ही पापी। इनके बीच की विभाजक रेखा एक भ्रम है।

'सिद्धार्थ' की यही द्वंद्वात्मक दृष्टि 'डेमियान' में भी है। एमिल सिनक्लेर इन्हीं दो विरोधी 'विश्व' से टकराता है और डेमियान की सहायता से इनमें सामंजस्य बिठाता है। वह विश्व के नियत सृजन में अपनी भागीदारी, अपनी सृजनशीलता की पहचान करता है।

हेर्मन हेसे द्वारा बताया गया यह समाधान जीवन के आध्यात्मिक पुनर्मूल्यांकन का रास्ता है। यह रास्ता अनिश्चित भले ही हो, अस्पष्ट नहीं है। इसके लिए पहले अराजकता-अव्यवस्था को स्वीकार करना होगा, फिर अवचेतन, अरूप, पाशविक तक पहुंचना होगा—वहां रहने के लिए नहीं, पशु बनने के लिए भी नहीं, अपितु अपने अस्तित्व की मूलभूत जड़ों तक पहुंचने के लिए, अपने भूले-बिसरे संवेदनों को जानने के लिए, अपने विकास की संभावनाओं तक पहुंचने के लिए, जिससे एक नया सृजन किया जा सके।

यह रास्ता कोई क्रांति नहीं सिखलाती। इसे मनुष्य खोजता है और उस पर अकेला चलता है। यह भीड़ का सुगम रास्ता नहीं है, जहां स्वतंत्रता और प्रेम का स्थान डर ले लेता है। इस अकेले रास्ते पर कोई डर नहीं, क्योंकि वह अपने साथ खुद है। हर व्यक्ति की जिंदगी में ऐसे चौराहे जरूर आते हैं, जहां सच समाप्त होकर दोबारा पनपते हैं। *डेमियान* इसी सच की तलाश है। ❑

डेमियान : हेर्मन हेसे; अनुवादक : महेश दत्त; राधाकृष्ण प्रकाशन; मूल्य : 65 रुपए।

असमिया

अपूर्व संघर्ष की गाथा

द्वारिका प्रसाद

प्रजा का राज असमिया साहित्य के यशस्वी हस्ताक्षर वीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य के उपन्यास *इयारुइंगम* का हिंदी अनुवाद है। कई दृष्टियों से यह उपन्यास हमारा ध्यान खींचता है।

पहली बात तो यह कि प्रस्तुत उपन्यास एक ऐसी कथाभूमि से परिचित कराता है जो हिंदी पाठकों के लिए अपरिचित एवं बहुत दूर का है। बर्मी सीमा प्रांत से लगा एक छोटा-सा गांव है उखूल – एक नगा गांव। यही इस उपन्यास की कथाभूमि है। नागालैंड के अंचल विशेष के जीवन को लेखक ने जिस तन्मयता एवं गहराई से चित्रित किया है वह सचमुच बड़ा प्रभावी है। इस जीवन को लेखक ने बहुत निकट से देखा है। एक कथा-सर्जक एवं कवि-दृष्टि से लेखक ने नगा जनजाति के अंतरंग जीवन में झांकने की कोशिश की है, कुछ इस तरह कि आप जातिगत वैविध्य की अनुभूति के साथ ही भारतीय संस्कृति की विशालता का अनुभव कर सकें और साथ ही सनातन मानवता का दर्शन भी। लेखक ने अपने अनुभवों का निचोड़ इन शब्दों में रखा है : 'नगा लोग भी मनुष्य हैं परंतु कुछ विशेष किस्म के मनुष्य हैं वे। उन लोगों के हृदय के ऊपर जो लौह कवच पड़ा है, उसके अंतराल में सनातन मानवता का अपूर्व रूप कुसुम खिला हुआ है।'

प्रजा का राज में सनातन मानवता का अपूर्व रूप कुसुम ही नहीं, युद्ध की विभीषिका में टूटते मानव मूल्य और तवाह बस्तियां भी हैं, अलगाववाद और आतंकवाद की समस्या है, जातिगत और धार्मिक भेदभाव है और सदियों की रूढ़ियों-रीतियों में जकड़ी मनुष्यता भी। गौरतलब यह कि जीवन की निराशापूर्ण स्थितियों के बीच भी उपन्यास के पात्र अपनी आस्था बनाए रखते हैं और विरोधी स्थितियों से संघर्ष करते हैं।

लेखक ने उपन्यास के कथा विधान को एक विशेष ऐतिहासिक संदर्भ में बुना है। द्वितीय विश्वयुद्ध के अंतिम दिनों से लेकर सन् 47 में स्वाधीनता प्राप्ति और गांधीजी की हत्या तक के संदर्भ-संकेत यहां मिलते हैं। एक विशेष ऐतिहासिक संदर्भ में हिंदुस्तान के बृहत्तर समाज से अलग-थलग पड़े सुदूर पूर्वोत्तर प्रांत में रांखुल नगा भूमि के विशिष्ट अंचल में क्या कुछ घटित हो रहा था ..... नगा समाज का जीवन यथार्थ किस तरह बदल रहा था, उसे शब्दबद्ध करना लेखक का उद्देश्य जान पड़ता है। इसलिए आंचलिक होते हुए भी उपन्यास आंचलिक नहीं है, वह आंचलिक कथा रूढ़ि से मुक्त है। लेखक ने कथा लेखन की यथार्थवादी पद्धति का ही अनुसरण किया है। नगा समाज का संपूर्ण बदलता हुआ यथार्थ उसकी रचनात्मक दृष्टि की परिधि में है। और इसीलिए उपन्यास में गहराई है तो व्याप्ति भी।

द्वितीय विश्वयुद्ध की विभीषिका को जिस तरह नगा समाज ने अपने सीने पर झेला, उस तरह वृहत्तर हिंदुस्तानी समाज ने नहीं। एक ओर मित्र राष्ट्रों की सेनाएं भी नगा गांवों पर बमबारी करती है, दूसरी ओर जापानी सेना के दमन और अत्याचार भी हैं। इन सबसे जूझ रही नगा जनजाति की पीड़ा एवं तड़प का मार्मिक वर्णन लेखक ने किया है। लेकिन यह सब केवल संदर्भ भर हैं। मुख्य कथा अलग ढंग से विकसित होती है। आगे चलकर उपन्यास में जो प्रधान समस्या उभरती है वह अलगाववाद की है। नगा भूमि में उभरते हुए आतंकवाद एवं पृथकतावाद की जड़ों को पहचानने की कोशिश झलकती है। कथानायक रिश्वांग का संघर्ष इसी समस्या से निपटने की दिशा में विकसित होता है। लेखक की मुख्य चिंता गुमराह युवकों को राष्ट्र की मुख्यधारा में वापस लाने की है।

सर्जनात्मक चुनौती एवं राष्ट्रीयत दायित्व के निर्वाह के लिए लेखक ने अपनी विश्वमानवतावादी दृष्टि का बड़ा ही रचनात्मक उपयोग किया है। यह दृष्टि कथानक एवं घटना प्रसंगों के निर्माण से लेकर चरित्र सृष्टि एवं प्रकृति में मनोरम वातावरण की नियति में हर जगह अनुस्यूत है।

उपन्यास में रिश्वांग एवं जीवन जी जैसे चरित्रों का विकास मानवतावादी दृष्टि के परिप्रेक्ष्य में होता है और वे लेखक के विचारों का प्रतिनिधित्व करते से लगते हैं। दूसरी ओर नाजेक और भिंडेश्वली तथाकथित नगा चेतना और पृथकतावाद के प्रतिनिधि चरित्र हैं। लेकिन इस प्रातिनिधिकता एवं प्रतीकात्मकता के बावजूद लेखक ने हरेक चरित्र की व्यक्तिगत विशिष्टताओं के उद्घाटन में अद्भुत कौशल का परिचय दिया है। सजीव एवं जीते-जागते पात्रों को पर्याप्त सहानुभूति दी है। हां, रिश्वांग और जीवन जी जैसे आदर्शवादी पात्रों को तुलना में नाजेक और भिंडेश्वली जैसे पात्र अपनी चरित्रगत दृढ़ता में अधिक प्रभावशाली मालूम पड़ते हैं।

नाजेक जी जो अपने गले में मुंडों की माला पहने रहते हैं, पुरानी दुनिया के प्रतीक चरित्र हैं। वह गांव के 'खुला कापो' यानी मुखिया हैं। वह उस पुराने स्वर्ग राज्य को, अतीत गौरव को वापस लाना चाहते हैं जो कब का नष्ट हो चुका है। उनका कहना है कि जब नगा लोग कपड़े-लत्ते बगैर नग्न रहते थे तब आज की अपेक्षा बहुत आनंद से रहते थे। खाने-पीने का कोई कष्ट नहीं था। गांव में जो भी बस्तुएं उपलब्ध थीं, उन्हीं से काम चल जाता था। रुपये-पैसे और इन सबके झंझट नहीं थे। अंग्रेजी शिक्षा पाए नौजवानों के विपरीत वह मानते हैं कि अंग्रेजी शिक्षा और ईसाई धर्म ने ही उनका विनाश किया है। गांव के निवासी अलग-थलग हो, बंद गए हैं। अंग्रेजी पढ़े-लिखे नौजवान साहब बनना चाहते हैं लेकिन नाजेक जी उन्हें नगा बनाने का उपदेश देते हैं और नगा बनने का अर्थ है स्वाधीन होना। लेकिन स्थिति यह है कि सच्चे नगा, की वीर-बलवान नगा की, अधेगति होती जा रही है। नौजवान नगा लड़के नई शिक्षा पाकर स्त्रियों जैसे हो गए हैं और अपनी तेजस्विता गंवा बैठे हैं। वे अब उनकी बात नहीं सुनते। खुद उन्हीं का बेटा खाटिंग अपने बाप की बात को अनसुना करके ईसाई हो जाता है और बी. ए. पास करके खसिया जाति की एक लड़की से विवाह रचाने दौड़ा चला जाता है।

और इसीलिए नाजेक जी खांटिग को कभी माफ नहीं करते। वह सिद्धांतों के लिए अपनी संतान तक का परित्याग कर सकते हैं।

अपनी मान्यताओं एवं जीवन व्यवहार में जो नाजेक जी इतने रूढ़ मालूम पड़ते हैं वही मरते समय अपने प्रतिनिधि के चुनाव में क्रांतिकारी दृष्टिकोण का परिचय देते हैं। वह मृत्युशैया पर एक ऐसे व्यक्ति को अपना प्रतिनिधि (खुला कापो) बनना चाहते हैं जो न उनके गांव का है, न उनकी जाति का और न ही उनके धर्म का। वह व्यक्ति है भिंडेश्वली—नगा चेतना का नेता। भिंडेश्वली ने कभी नेताजी सुभाष चंद्र बोस से स्वाधीनता का मंत्र सीखा था। इस मंत्र को वह कभी नहीं भूला। और आजादी के बाद भी वह नई सरकार को एक स्वतंत्र सरकार के रूप में ग्रहण नहीं करता। उसके हृदय में अब भी एक नगा स्वाधीनता का कल्पित स्वराज झिलमिलाता रहता है और उसे प्राप्त करने के लिए वह जी-जान से जुटा है। अपनी दृढ़ता, कर्मठता एवं संघर्षशीलता के कारण ही वह नगा स्वाधीनता का नेता बन बैठा है। ऐसे व्यक्ति को अपना सही प्रतिनिधि चुनने में नाजेक को कोई हिचक नहीं होती। भले ही वह ईसाई क्यों न हो। 'एक ईसाई को अपना खुला कापो क्यों बना रहे हो'—लोगों के इस प्रश्न पर उनका दृढ़ उत्तर है, 'क्योंकि वह सच्चा नगा है। स्वाधीनता आंदोलन के सही मर्म को समझने वाला बस यही एक आदमी है। चेहरे-मोहरे का मेल नहीं तो क्या हुआ, अंतर्मन का मेल तो है।' मनुष्य की पहचान उसके अंतर में, उसके हृदय में है। बाहरी निशानों से मनुष्य को नहीं समझ सकते। (पृ. 90)

यह प्रसंग उपन्यास के मार्मिक प्रसंगों में से एक है। एक-दूसरे से अनजाने, अपहचाने परंतु समान चेतना वाले प्राणों के समानधर्मी आत्माओं के मिलन-दृश्य का लेखक ने बड़ा मार्मिक वर्णन किया है : 'दूसरी ओर स्वाधीनता की उसी चेतना को एक मरणोन्मुख बूढ़े आदमी में देखकर भिंडेश्वली ने भी मन ही मन तीव्र उत्साह एवं अभूतपूर्व आत्मीयता का अनुभव किया है। कुछ क्षणों के लिए तो वह भूल ही गया कि धर्मनिष्ठा से वह एक ईसाई है। उसके अंतर्मन में ऐसी स्पष्ट धारणा उभर आई कि मनुष्य का असली परिचय गिरजाघरों में अथवा नगा प्रथानुसार कामियो देवता की पूजा-अर्चना में प्रस्फुटित नहीं होता, बल्कि मनुष्य का असली परिचय स्पष्ट होता है, उसके प्राणों के खिले हुए शतदल कमल में।' (पृ. 91)

इस उपन्यास को एक गंभीर मानववादी विमर्श के रूप में पढ़ा जा सकता है। रिश्वांग और भिंडेश्वली के संवाद के माध्यम से लेखक ने दोनों के दृष्टिकोण को बड़े स्पष्ट शब्दों में रखा है। भिंडेश्वली का कहना है कि 'नगा एक अलग प्रकार की विशिष्ट कोटि की औरों से एकदम अलग किस्म की जाति है।' यह विश्वास ही आतंकवाद और अलगाववाद में मूल में है। वह एक ऐसा राज्य बनाना चाहता है जिसमें प्रवेश करने पर मनुष्य अनुभव करे कि नगा होने का अर्थ क्या है? दूसरी ओर रिश्वांग कहता है कि 'देखो भाई, भिंडेश्वली, मैं नगा होने के लिए प्रार्थना नहीं करता। मैं तो मनुष्य होने के लिए प्रार्थना करता हूं।'

धार्मिक संप्रदायवाद का विरोध भी लेखक ने इसी मनुष्य-केंद्रित दृष्टि से किया है। गांव में गिरजाघर को लेकर दो समुदायों में संघर्ष चलता है। कथानायक रिश्वांग खुद ईसाई है लेकिन उसकी सोच अन्य ईसाइयों से अलग है : 'एक गिरजाघर को लेकर हमारे बुजुर्गों ने जब लड़ना-झगड़ना शुरू किया था, दरअसल गिरजाघर की नींव तो उसी दिन लड़खड़ा गई थी.....इस गिरजाघर ने हमें विश्व भ्रातृत्व की ममता भरी वाणी सिखाना छोड़कर हमारे गांव के अपने आदमियों के अंदर ही वैमनस्य का संपात कर दिया है। अगर गांव में इस तरह के सौ गिरजाघर भी बन जाएं तब भी प्रभु यीशु का सपना पूरा नहीं होगा। अरे इसे तो तहस-नहस कर देना चाहिए। गिरजाघर बड़ा है या मनुष्य?.....मनुष्य ही बड़ा है।' (पृ 209)

कथानायक रिश्वांग तो मानववादी आदर्शों का मूर्त रूप है। व्यक्तिगत प्रेम की तुलना में वह समष्टि प्रेम को महत्व देता है। जनसेवा में, लोककल्याण के कार्यों में वह अपना निजी दुख भूल जाता है। प्रकृति से उसका लगाव अत्यंत गहन है। यह प्रकृति प्रेम भी उसे विश्व मानव की ओर उन्मुख करता है, उसके चरित्र को उदात्त धरातल पर प्रतिपादित करता है। प्रकृति, प्रेम और सौंदर्य के चित्रण में कहीं-कहीं कविता के साथ ही रहस्यात्मकता के दर्शन होते हैं : 'कुदाल की बेंट को कंधे पर रखकर रिश्वांग ने चारों ओर की प्रकृति को ध्यान से निरखा। ऊपर फैला हुआ आकाश और उसका मन दोनों ही एक विराट शब्दहीन निस्तब्धता में विलीन हो रहे हैं। उसे लगा जैसे वह किसी अदृश्य शक्ति स्रोत से निकला हुआ एक पहाड़ी झरना है, जो बहते-बहते आर-पार हीन, अनंत, असीम विशाल सागर में अपने को मिलाए दे रहा है। अनासक्त प्रेम की एक अदमनीय करुण और कोमल मधुर ध्वनि आ-आकर उसके कानों में पड़ने लगी.....मैं उससे प्रेम करता हूं। हे परमेश्वर, ठीक वैसे ही जैसे कि तुम मुझे प्रेम करते हो।

"किसको, खुंटिला को?"

"नहीं।"

"तो फिर क्या शारेंला को?"

"नहीं, नहीं.....।"

"फिर किसे?"

"एक विराट नामहीन महान सत्ता को। संभवतः उनका नाम है विश्वमानव।"

इस उपलब्धि से जो वेदना उत्पन्न हुई उससे उसका कलेजा कांप गया। कुछ देर यूं ही खड़ा रहने के बाद उसने फिर सोचना आरंभ किया। ये पर्वत ही वस्तुतः ज्ञान के जनक हैं। (पृ. 240)

जिस तरह की अनुभूति कथानायक रिश्वांग को होती है कुछ उसी तरह की अनुभूति अन्य पात्रों को भी होती है। एक जगह लेखक ने लिखा है : 'पगडंडी के दोनों आरे खड़े देवदारु और चीड़ वृक्षों की कतारों ने उन लोगों के मन में किसी अदृश्य कलाशिल्पी के अस्तित्व का स्मरण करवा दिया।. .....जीवन जी को अकस्मात याद आया कि एक दिन इसी प्रकार भारत के अरण्यों में सभ्यता का जन्म हुआ था। इसी तरह संभवतः ध्यानी मन में इन अरण्य प्रांतों में ही कहीं मानव के महाजीवन की एकता की भावना जागी थी।' (पृ. 261) यह प्रकृतिपरक रहस्यवाद है। लेखक का अरण्य एवं पर्वत प्रेम समझा जा सकता है। लेकिन विश्व की एकात्मकता की अनुभूति पहाड़ी जीवन की एकमात्र विशेषता नहीं। वह कहीं भी हो सकती है। महाकवि निराला ने लिखा है :-

जग का एक देखा तार
कंठ अगणित
देह सप्तक
मधुर स्वर झंकार!

जीवन जी की अवतारणा उपन्यास के उदात्त मानवतावादी आदर्शों के अनुरूप है। उनका चरित्र सहजता, साहस एवं निष्काम प्रेम के तथ्यों से निर्मित है। पढ़-लिखकर लोग जज या मुंसिफ बनते हैं, जीवन जी नगा पहाड़ों में आकर शिक्षक बने, और एक नगा कन्या से विवाह किया। सुख, संपदा, शंति उनके नसीब में नहीं है। उसकी जगह है नवीन साहसिक कार्यों का

रोमांच। वह गांधीजी के आदर्शों को याद करते हैं—विशेषकर उनके अंतिम दिनों के शांति स्थापना के प्रयासों को। जीवन जी भी नगा समाज में प्रेम, भाईचारा और शांति स्थापना का प्रयास करते हैं और फलस्वरूप अलगाववादियों की गोली का शिकार बनते हैं। उपन्यास में क्रांतिकारी और अलगाववादियों में से किसी की हार-जीत नहीं दिखाई गई है लेकिन जीवन जी जैसे चरित्रों के माध्यम से राष्ट्रीय दायित्व की मांग अधिक घनीभूत होकर उभरती है।

नारी पात्रों में शारेंला का चरित्र सर्वाधिक प्रभावशाली है। उसका चरित्र उपन्यास में विशेष प्रमुखता एवं सहानुभूति के साथ चित्रित है। कथा का आरंभ और अंत उसी से होता है। शारेंला की कथा अवांछित दुर्भाग्य से शुरू होती है।

युद्ध की विभीषिका में एक जापानी सैनिक की कैद और प्रेम में पड़कर वह बुरी तरह छली जाती है और एक विदेशी सैनिक की संतान को अपने गर्भ में ढोती हुई, लोगों की उपेक्षा और उपहास का पात्र बनती है। लेकिन तप, त्याग, प्रेम और सेवा भावना से वह लोगों का दिल जीतने में कामयाब होती है। अपने आश्रयदाता गाटिंगखु के जबर्दस्ती करने पर यह जैसा प्रतिशोध करती है उससे पता चलता है कि पतिता नारी में भी एक तेजवंत प्राण हो सकता है। एक तरफ वह रिश्वांग के साथ अपने बचपन के निष्कलुष संबंध को देहातीत एवं त्यागमय प्राप्ति के माध्यम से सशक्त ज्योति का रूप होने की कोशिश करती है वहीं दूसरी ओर निराश्रित फानिदफांग के प्रति देह समर्पण करने में जरा भी संकोच नहीं करती। शारेंला और फानिदफांग के प्रेम में प्राणों का सहज आवेग एवं ऊष्मा है। दरअसल शारेंला का चरित्र परिस्थितियों के घात-प्रतिघात के साथ ही नारी मनोविज्ञान के जटिल सूत्रों से निर्मित है। उसका चरित्र यथार्थ की भूमि के साथ ही आदर्श के उच्च धरातल का स्पर्श करता है। रिश्वांग के प्रति अपने प्यार को वह सेवा और आत्मबलिदान से प्रकाशित करती है।

अजब बात है कि इस उपन्यास का कोई भी पात्र जब प्रेम करने लगता है तब त्याग की ओर बढ़ता है। इस मायने में यह उपन्यास एक आदर्श प्रेम कथा की तरह है। प्रेम की तीव्रता एवं गहराई को फानिदफांग के जरिए भी प्रकाशित किया गया है। फानिदफांग यद्यपि खुंटिला को प्यार करता है लेकिन उसके प्रेमी रिश्वांग को बचाने के लिए अपनी जान दे देता है।

खुंटिला और रिश्वांग के प्रेम को लेखक ने यथार्थ की भूमि पर विकसित होते हुए दिखलाया है। इस प्यार के मार्ग में धर्म, जाति और वही पुश्तैनी झगड़े आड़े आते हैं। बरसाती नदी के समान उनके यौवन का अल्हड़ और वेगवान प्यार परिस्थितियों के घात-प्रतिघात में पड़कर संयमित और मर्यादित हो जाता है। वियोग के लंबे अंतराल के कारण उसमें एक परिपक्वता आ जाती है अब उसमें वासना का आवेग नहीं, उदात्त गांभीर्य है। उनका प्रेम उन्हें समाज से काटता नहीं अपितु सामाजिकता को और भी बल पहुंचाता है। उपन्यास में नर-नारी एवं इंसानी रिश्तों के कई रूप उभरते हैं और उनके माध्यम से लेखक ने रागात्मक मानवीय संबंधों को सूक्ष्मता एवं गहराई के साथ समझने की कोशिश की है।

उपन्यास का समापन एक आशावादी स्वर के साथ होता है। कथानायक सोचता है कि कभी न कभी शांति अवश्य कायम होगी—'गांव में घर-घर में, मानव प्रेम की निष्कंप दीप शिखा जलेगी।' (पृ. 336) और 'इसके साथ ही अंगरू, मंगरू, रामू, शामू जैसे सामान्य जनों का शासन होगा, साधारण प्रजा की विजय होगी।' (341)

यह उपन्यास सन् 57 में लिखा गया था। राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम से अर्जित मूल्य तक निःशेष नहीं हुए थे। वह उपभोक्तावाद और बाजारवाद का जमाना नहीं था। आज के सांस्कृतिक संकट और मूल्य विघटन के जमाने में गहन मूल्यबोध से युक्त इस उपन्यास को पढ़ना एक सुखद अनुभव से गुजरना है।

कहने की जरूरत नहीं कि वीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य एक कुशल कथाशिल्पी हैं। उपन्यास में एक अद्भुत प्रवाह है। सुगढ़ स्थापत्य, सजीव चरित्र-विधान एवं उदात्त मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा के कारण यह एक पठनीय उपन्यास है।

इस उपन्यास का हिंदी अनुवाद हिंदी और असमिया के सुपरिचित लेखक एवं अनुवादक महेंद्रनाथ दूबे ने किया है। इतने अच्छे अनुवाद के लिए वह बधाई के पात्र हैं। ❑

प्रजा का राजः वीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य; अनु. महेंद्रनाथ दूबे; साहित्य अकादमी, नई दिल्ली ; पृ.सं. : 348; मूल्य : 130 रुपये।

कन्नड़

जटिल युद्ध : सरल विजेता

चंद्रभूषण

प्रसिद्ध कन्नड़ साहित्यकार यू. आर. अनंतमूर्ति के हिंदी में अनूदित दो उपन्यास *संस्कार* और *अवस्था* लगातार एक के बाद एक पढ़ने का मौका मिला। हिंदी पाठक इन उपन्यासों से अपरिचित न होंगे। चंद्रकांत कुसनूर द्वारा अनूदित *संस्कार* 1977 में और भालचंद्र जयशेट्टी द्वारा अनूदित *अवस्था* 1980 में हिंदी में उपलब्ध हुए थे।

इस टिप्पणी का मूल उद्देश्य पाठकों का इन बहुचर्चित उपन्यासों से प्रथम परिचय कराना नहीं बल्कि सामाजिक विकास की रोशनी में इनकी पद्धति और निष्कर्षों के बारे में अपनी राय जाहिर करना है।

संस्कार और *अवस्था* दोनों ही उपन्यास परंपरा, राजनीति व समूचे जीवन के प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण को लेकर गहरी दिलचस्प बहसें खड़ी करते हैं, काफी बड़ी कद-काठी वाले नायक और उनके असरदार फैसले सामने लाते हैं, लेकिन उपन्यासों की अपनी तर्क प्रक्रिया से बाहर निकलकर सोचते ही नायकों और उनके फैसलों के बारे में और स्वभावतः उपन्यासों के बारे में भी आपकी राय बदलने लगती है। नायक छोटे और उनके फैसले भुरभुरे लगने लगते हैं, उपन्यास मिथ खड़े करने की कोशिश लगने लगते हैं।

उपन्यास *संस्कार* एक संस्कारी आचार्य प्राणेशाचार्य के दिमागी कायापलट की कथा है। संस्कारों, शास्त्रों और शुद्ध आध्यात्मिकता में सवालों के जवाब खोजने के आदी एक मनुष्य के द्वारा ठोस भौतिक जीवन के तर्कों को अपना लेने की कथा। इसे कन्नड़ का क्रांतिकारी उपन्यास कहा गया था। इस पर फिल्म भी बनी थी और इसके ही जरिए अनंतमूर्ति के साहित्यिक धरातल से लोग परिचित हुए थे।

शिमोगा जिले के एक ब्राह्मण गांव में एकमात्र प्राणेशाचार्य ऐसे ब्राह्मण हैं जो न सिर्फ शास्त्रों में पारंगत हैं बल्कि उनमें वास्तविक आस्था रखते हैं, बाकी ब्राह्मणों के लिए शास्त्र और संस्कार महज दिखावे की चीजें हैं, वास्तविक जीवन में वे क्षुद्र स्वार्थों में उलझे हुए लोग हैं और पैसे के लिए कोई भी काम बाकी नहीं रखने वाले हैं।

गांव में प्लेग आ रहा है – पहला मृतक है नास्तिक धर्मद्रोही नारणप्पा। यद्यपि किसी को पता नहीं कि यह मौत एक महामारी का पहला शिकार है। नारणप्पा, जो कि खुद भी ब्राह्मण ही था, जब तक जिया, ब्राह्मणों की नाक में दम किए रहा। निरंतर जारी चालबाजियों से तंग आकर वह दूसरे छोर पर चला गया – तर्क-वितर्क के बजाय उसने मांस-मदिरा, यौनाचार, नीची जातियों के साथ रहन-सहन शुरू कर दिया और रौब गांठने के लिए धमकियां देने वाले ब्राह्मणों से साफ कह दिया कि अगर वे अब भी बाज न आए तो वह मुस्लिम बन जाएगा। वही नारणप्पा आज मरा पड़ा है। सवाल है उसका अंतिम संस्कार कौन करे? उसका शव ब्राह्मण जन छूने वाले नहीं, लेकिन जो संस्कार करेगा, उसे नारणप्पा के पास पड़ा सोना मिलेगा, लिहाजा उसके दो रिश्तेदार इसके लिए आपस में लड़ पड़ते हैं।

प्राणेशाचार्य को ही फैसला देना है। ऐसे आदमी का अंतिम संस्कार कैसे किया जाए, इसे करने का अधिकारी कौन है – शास्त्रों में इन सवालों का जवाब खोजना है। मगर सारे शास्त्र चुप हैं। प्राणेशाचार्य के लिए यह शास्त्रीय चुनौती दरपेश है, लेकिन उनके लिए वास्तविक चुनौती शास्त्रीय नहीं, मौलिक है। नारणप्पा जब तक जिया उसके खिलाफ वे लड़ते रहे – यह एक ऐसी लड़ाई थी, जिसे वे अपना परम कर्तव्य मानते थे। आज वह धर्मद्रोही मर गया मगर धार्मिक लोग जिंदा हैं और उनके सामने उसी के सोने के लिए कुत्तों की तरह लड़ रहे हैं। नारणप्पा द्वारा दारू की झोंक में बोले गए उजड्ड शब्द उनके लिए चुनौती बन गए हैं। उसने अपने तरीके से कुछ इहलौकिक सवाल उनके ऊपर फेंक मारे थे – सारे संस्कार, सारी नैतिकता क्या इसलिए कि ताकतवर और चालबाज ब्राह्मण उसका ग्रास बना डालें? और सबसे बढ़कर यह कि पौराणिक कथाओं में व्याप्त ऐंद्रिक आवेग और कालिदास की काव्यात्मक मांसलता अगर सही है तो आज के लोगों के मन में उठने वाले आवेग गलत क्यों हैं? संस्कारों के बोझ तले इनका गला घोंट दिया जाना जायज कैसे है?

प्राणेशाचार्य की दुविधा अचानक एक विकट मोड़ लेती है। बुरी तरह डरी-सहमी, नीची जाति की स्त्री चंद्री जो नारणप्पा की प्रेमिका/पत्नी थी—अजीब तरीके से उनकी जिंदगी में घुस पड़ती है। अंतिम फैसला हनुमान जी की मूर्ति पर छोड़ने के बावजूद जब वहां से भी कोई फैसला नहीं मिलता – डगमगाती आस्था के झंझावात से गुजरते प्राणेशाचार्य घोर रात्रि में जंगल से होते घर लौट रहे हैं, जाने कहां-कहां भटकती हुई चंद्री भी लौट रही है – दुख के आवेग में वे एक-दूसरे से टकराते हैं, एकमएक हो जाते हैं।

पहली बार प्राणेशाचार्य भौतिक जीवन के आवेग से परिचित होते हैं। दिमाग का समूचा ढांचा ही गड़बड़ा जाता है। वह घर लौटते हैं, अपनी रोगिणी पत्नी को थोड़ी ही देर में प्लेग से मरता हुआ पाते हैं और फिर जिधर भी पैर ले जाएं, निकल पड़ते हैं। वास्तविक जीवन के राग-द्वेष, आवेग, संवेग—सब कुछ जैसे पहली बार उन्हें दिखाई पड़ रहे हैं। चंद्री के संसर्ग से उपजे आलोड़न ने उनके संस्कारी दिमाग की बंद खिड़कियां खोल दी हैं – दुविधा और द्वंद्व के तकरीबन तीन दिन-रात के बाद वह फैसला करते हैं कि अपने गांव लौटेंगे और खुले तौर पर चंद्री को स्वीकार करेंगे।

क्या नारणप्पा की नियति से खुद उन्हें भी गुजरना न पड़ेगा? उपन्यास खत्म हो चुका है। प्राणेशाचार्य का फैसला सालों पहले लिए गए नारणप्पा के फैसले से भिन्न कैसे है? एक व्यक्ति का बीहड़ नैतिक द्वंद्व कोई कम महत्वपूर्ण चीज नहीं है, फिर भी यह कितना महत्वपूर्ण है? क्या ब्राह्मणवादी सामाजिक वैचारिक ढांचा इतना निराधार है कि व्यक्तियों के नैतिक द्वंद्व से उपजे फैसले उसे प्रभावित कर सकते हैं?

उपन्यास का ताना-बाना सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक किस्म का नहीं है और ऐसी कोई शर्त किसी उपन्यास पर थोपी भी नहीं जा सकती। फिर भी जो देश-काल उपन्यास से उभरता है उसमें सामाजिक तर्क अनुपस्थित नहीं हैं। कांग्रेस का जिक्र आता है तो केरल और तेलंगाना के कम्युनिस्ट आंदोलनों और तमिलनाडु की जस्टिस पार्टी के ब्राह्मण आंदोलन का भी इस देश-काल से जरूर कुछ संबंध खोजा जा सकता है। ऐसा उपन्यास में होना चाहिए—ऐसा कुछ कहने का कोई मतलब नहीं लेकिन यदि ऐसा होता तो संस्कारों के खिलाफ युद्ध का जो कुरुक्षेत्र प्राणेशाचार्य के मन में तैयार होता है वह उभर रहे सामाजिक तर्कों की रोशनी में कुछ अधिक वास्तविक लगता और शायद उस युद्ध में प्राणेशाचार्य की जीत भी इतनी सरल नहीं होती।

हर उपन्यासकार अपने नायक के लिए कुरुक्षेत्र खुद रचता है और यह भी उसके ऊपर है कि वह अपने नायक से इस कुरुक्षेत्र में क्या-क्या करतब करा ले जाता है। लेकिन एक पाठक के बतौर आप सबसे ज्यादा करीब खुद को उस उपन्यास से पाते हैं, जिसका कुरुक्षेत्र वास्तविक जीवन के कुरुक्षेत्र को अधिक से अधिक प्रतिबिंबित करता हो और नायक के करतब अधिक से अधिक इसके युद्ध सिद्धांतों से निर्धारित होते हों – उसका जीतना या हारना इन सिद्धांतों की पूरी तरह अनदेखी करके न होता हो। नकली लड़ाई के नकली विजेता बहुत आकर्षक नहीं होते। अनंतमूर्ति के दोनों उपन्यासों पर सीधे ऐसा आरोप नहीं लगाया जा सकता लेकिन कुछ हद तक वे ऐसे ही लगते हैं। उनकी शक्ति द्वंद्व के रचाव में है पर फैसले के स्तर पर वे सरल, सतही, काल्पनिक लगते हैं।

अपनी बात की पुष्टि के लिए नहीं, बल्कि उपन्यासकार के प्रति अपनी समझ गहरी करने के लिए हम उनके बड़े फलक के जटिल उपन्यास *अवस्था* पर आते हैं। यहां भी मूल द्वंद्व दिमाग में है, पर उसके स्पष्ट सामाजिक संदर्भ हैं जो लेखक की वैचारिक आस्था से हमें परिचित कराते हैं।

आज की दबंग पिछड़ी कन्नड़ जाति वोक्कालिगा से आया नायक कृष्णप्पा समाजवादी सोच का राजनीतिज्ञ है – विधानसभा में विपक्ष का नेता। परिवेश साठ-सत्तर के दशक का लगता है। कृष्णप्पा अपनी दिमागी बुनावट में महाभारत के कृष्ण जैसा है – गरीब परिवार का अंतर्मुखी, थोड़ा-थोड़ा सनकी। पर दृढ़ इच्छाशक्ति वाला किसान आंदोलन का नेता जो शुरू से आखिर तक विकट मानसिक द्वंद्वों से गुजरता है – चरम सुख-सुविधा के माहौल में भी, सारी विलासिता के बीच भी अपनी आत्मा को शीशे की तरह साफ रखता है, एक खरोंच तक लगने नहीं देता।

पिता की उसे याद नहीं, उनकी हत्या कर दी गई थी और उसे बचपन मामा के घर ढोर चराते बिताना पड़ रहा था कि वहीं एक मस्त-मलंग महेश्वरैया मिलता है जो उसे चरवाहे की जिंदगी से हटाकर पढ़ाई-लिखाई की ओर ठेल देता है। चरवाही के दौरान कभी किसी दिन दिखा रंग-बिरंगे पंखों वाला एक अद्‌भुत पक्षी बार-बार उसे सपनों में दीखता है और उपन्यास के आखिर में राजनीति की लुच्चई-टुच्चई से घिनाया हुआ वह जब अपनी दिली ख्वाहिशें जाहिर करता है तो उनमें एक यह भी होती है कि वह एक बार फिर उस अद्‌भुत पंछी के पीछे निकल जाए जो उस दिन के बाद उसे कभी नहीं मिला।

बचपन में उसे भ्रम हो गया था कि उसके पास कोई दैवी-शक्ति है।

बाद में यह भ्रम टूटता है, लेकिन एक मूल बात इसकी बची रह जाती है कि रोजमर्रा के टुच्चे जीवन के लिए सारे करम करने वाले लोगों में वह नहीं है, वह उनसे अलग है और मार्क्सवादी सोच वालों से जब भी बहस होती है वह इस मत पर डटा रहता है कि रोजमर्रा के सवालों पर रोटी-कपड़ा-मकान वगैरह की चिंताओं से प्रेरित होकर कोई क्रांति हो भी जाए और यह सब इफरात में हासिल भी हो जाए तो इससे क्या होगा, आदमी की बुनियादी तड़प कुछ और है।

यह 'कुछ और' ही हर बार उसके लिए अवकाश बनकर आता है – गंदगी के चहबच्चे में पैर टिकाने की एक जगह। उसकी मां – एक ठेठ किसान औरत, अजीबोगरीब मस्त-मलंग महेश्वरैया, रहस्यमय मौन साधक एक वैरागी, गौरी—एक शहरी लड़की, जिससे प्यार का इजहार कभी किया नहीं गया। ये सारे 'कुछ और' हैं – ऐसी जगहें जहां लौटा जा सकता है, जहां रोजमर्रा के नियम-कानून से उसकी अधोगामी लीक से खुद को हटाकर अपनी शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है।

कहानी की शुरूआत फ्लैशबैक से होती है – पक्षाघात से अपाहित हुआ कृष्णप्पा टुकड़े-टुकड़े अपनी कहानी याद कर रहा है और अपने ऊपर अगाध आस्था रखने वाले एक जीवनीकार कार्यकर्ता को सुना रहा है। द्वंद्वों की एक शृंखला है – फ्लैशबैक में फैसले एक दिशा में होते हैं – हरहराती जिंदगी की ओर बढ़ने या यों कहें कि 'रोजमर्रा की जिंदगी' की तरफ बढ़ने की 'दिशा में' और उसके बाद आगे की ओर कहानी बढ़ते ही दूसरी दिशा में – यानी लौटने की ओर बैरागी-आध्यात्मिक जीवन की ओर बढ़ने के बजाय घात-प्रतिघात से भरी जिंदगी में रहने का फैसला; शहराती लड़की से प्रेम कर शहर की शर्तों पर, उसके ढर्रे पर जीने के बजाय देहात जाकर खेती-बाड़ी करने का फैसला, एक पारंपरिक स्त्री से पारंपरिक ब्याह कर गृहस्थी चलाने का फैसला, सामान्य किसान की तरह गुजर-बसर करने के बजाय सामंतवाद विरोधी किसान आंदोलनकारी और फिर चुनाव लड़ने और विपक्ष का नेता बनने तक का फैसला—फ्लैशबैक की बातें हैं और इन सारे फैसलों के बाद वह अपाहिज चारपाई पर पड़ा है जहां से उपन्यास शुरू होता है।

इसके बाद के फैसले उल्टे मिजाज के हैं। एक है अपनी पुरानी प्लेटॉनिक प्रेमिका गौरी के प्रति समर्पित होना – अपनी मां और गौरी के संसर्ग से किचकिच भरे गार्हस्थ्य से मुक्त होना और दूसरा शासक पार्टी में टूट और अपनी पार्टी को मिल रहे धनाढ्य-नवधनाढ्य हिस्सों के समर्थन के जरिए हासिल हो रहे मुख्यमंत्री पद को ठोकर मार देना।

नायक की नैतिक बहसें मार्क्सवादियों के साथ हो रही हैं – एक बहस 'रोजमर्रा की जिंदगी' वाली का उल्लेख हो चुका है, दूसरी बहस और उपन्यास के लिहाज से निर्णायक बहस भी एक मार्क्सवादी के साथ जो राजनीति में व्यक्तिगत नैतिकता को लेकर है, जैसे पहले बिंदु पर मार्क्सवादी यांत्रिक साबित होता है वैसे दूसरे और अंतिम बिंदु पर भी वह यांत्रिक और सबसे बढ़कर दुविधावादी साबित होता है। पहले वह कहता है कि पूंजीवादी राजनीति में व्यक्तिवादी नैतिकता का कोई महत्व ही नहीं है और उसके बाद जब ठोस रूप से सवाल यहां केंद्रित होता है कि कृष्णप्पा को मुख्यमंत्री बनना चाहिए या नहीं, तब खुद दुविधा में फंसा हुआ वह कृष्णप्पा को भी दुविधा में फंसा छोड़कर चल देता है।

मार्क्सवादियों को इतना यांत्रिक और दुविधावादी साबित करने के पीछे लेखक का पता नहीं क्या मकसद है – पता नहीं उसकी ऐसी राय कुछ खास चरित्रों के बारे में है या मार्क्सवाद के बारे में! जो भी हो, इन बहसों के जरिए निकलने वाले निष्कर्ष और इनसे बनने वाले चरित्र किसी युग प्रश्न से टकराने वाले साबित होने के बजाय कतराकर निकल जाने वाले औसत किस्म के साबित होते हैं। दुखपूर्वक कहना पड़ रहा है कि ऐसे औसत चरित्रों को महानायक की तरह खड़ा करना लेखक द्वारा औसतपने के महिमामंडन की उसी प्रवृत्ति की ओर इशारा करता है जिसकी बहुतायत आज हमारे समाज में दिखाई पड़ रही है।

एक अंधेरा, अवचेतन पहलू ; आदमी के इहलौकिक दिमाग के भीतर ही एक परलोक जहां आदमी खुद अपने बारे में फैसले देता है, उसे रचना – एक अवकाश रचना इस उपन्यास की उपलब्धि लगती है, लेकिन ऐसी ही आड़, ऐसा ही कोई 'सिनिसिज्म' तो ये स्वयंभू मसीहा भी बनाते हैं। यह ऐसी जगह है, ऐसा चुना हुआ युद्ध क्षेत्र है, जहां विजेता साबित होना जितना मुश्किल है उतना ही आसान भी है।

उपन्यास के अंतिम हिस्से का वह विमर्श शानदार है—जहां नायक अपने अतीत का विश्लेषण—राजनीतिक अतीत का विश्लेषण करता है—जिस किसान आंदोलन का नेतृत्व कर रहा था, उसका फायदा धनी किसानों ने उठा लिया, धनी-मध्यम किसान आंदोलनकारी नहीं यथास्थितिवादी शक्तियां बन गए हैं – ऊपर-ऊपर की राजनीति और जोड़-तोड़ से उनका काम चल सकता है। किसानों के जिन हिस्सों में अब भी बदलाव की तड़प है – वे भूमिहीन गरीब किसान, जो इस लोकतांत्रिक राजनीति के शिकार हैं उनकी तरफ मुड़ना, उनका नेतृत्व करना अब उसके बस में नहीं रहा।

अपने इस अपाहिजपन का इलाज वह एक अवकाश में खोजता है। वह विधानसभा से इस्तीफा दे चुका है। वह पाठक के लिए नायक बन चुका है। लेकिन जीवन जहां का तहां छूट चुका है। नायक युद्ध से हट चुका है फिर भी विजेता है – अनंतमूर्ति अपने नायक के लिए इतना सुविधाजनक युद्ध क्षेत्र चुनकर उसके लिए जिंदगी आसान बना देते हैं। कृष्णप्पा का सारा सिनिसिज्म यहां एक वेडौल विडंबना का सुडौल बयान भर बनकर रह जाता है।

उपन्यासों के कलात्मक पहलू पर ज्यादा कुछ कहने का मौका नहीं। कुछ-कुछ पंक्तियां और हिस्से ऐसे हैं जो जिंदगी भर भूलने वाले नहीं हैं। मसलन कृष्णप्पा द्वारा खेतिहर जीवन की यह याद—गर्मी के दिनों में जब कुंआ सूख जाता और उसमें घुटनों तक पानी रह जाता तब कृष्णप्पा उसमें उतरता था बाल्टी में कीचड़ भर-भरकर उठाकर देता, तो ऊपर शेषप्पा रस्सी से खींच लेता। दम घुटे स्रोतों को सहलाकर जगाने के लिए, कीचड़ उठाने के लिए हाथ लालायित हो जाते। चंगेरी से इस तरह कीचड़ और पानी उठाने लगता तो सहसा ठंडे पानी के स्रोत उछलकर उंगलियां के पोर को छू जाते तब सारी देह में सनसनी-सी दौड़ जाती। यह महज एक खेतिहर का अनुभव नहीं, एक योग्य संगठक की रचनात्मक अनुभूति है।

उपन्यासों का अनुवाद प्रवहमान है। कन्नड़ साहित्य को हिंदी साहित्य की तरह पढ़ना सुखद है। अनुवादकों को शहराती हिंदी की ही नहीं, देहाती हिंदी की भी समझ है। इधर काफी दिनों से हिंदी में राजनीतिक नैतिकता को विचार-विमर्श के केंद्र में रखता हुआ कोई उपन्यास नजर से नहीं गुजरा। यह विषयवस्तु इन उपन्यासों के जरिए जैसे अचके में हमें पकड़ लेती है। उपन्यासों को जितनी प्रशंसा मिले, उसका एक अच्छा-खासा प्रतिशत अनुवादकों को मिलना चाहिए। ❑

संस्कार; मूल्य : 60 रुपये; पृष्ठ संख्या : 172

अवस्था; मूल्य : 65 रुपये; पृष्ठ संख्या : 190

दोनों पुस्तकों के लेखक : यू.आर. अनंतमूर्ति; प्रकाशक : राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

औरत के हक में और आदमी के भी

तसलीमा नसरीन की पुस्तकों पर **यदुनाथ मुखर्जी**

बंगला भाषी साहित्यकार तसलीमा नसरीन शब्दों को सजाने-संवारने में इस कदर निपुण हैं कि उनका गद्य भी कभी-कभी अतुकांत कविता दिखाई देता है। जिस देश में सन् 47 से आज तक स्थानीय भाषा की हत्या करने के लिए लगातार उर्दू, फारसी और अरबी शब्दों को बंगला में घुसेड़ने को सरकारी प्रोत्साहन रहा हो, उसी बंगलादेश में तसलीमा ने इस सवाल पर कभी भी समझौता नहीं किया है। इतना ही नहीं, अग्रज और बंगलादेश के सबसे प्रिय कवि शम्सुर रहमान के अंदर इस सवाल पर थोड़ा भी विचलन वह सहन नहीं कर पातीं। 'बंगला भाषा इतनी अभागिन तो नहीं हो गई कि उसे दूसरी भाषाओं के सामने हाथ फैलाने पड़ें'—वह शम्सुर से पूछती हैं। तसलीमा प्रखर नारीवादी अवश्य हैं लेकिन तसलीमा के लिए नारी मुक्ति न तो फैशन है और न ही मिथक। यही कारण है कि फैशनपरस्त नारीवादियों के प्रति उनके दिल में कोई सहानुभूति नहीं है। प्रायः ऐतिहासिक और मध्ययुगीन समाज में नारी का स्थान बहुत गरिमापूर्ण रहा है, इन मिथकों पर तसलीमा यकीन नहीं करतीं। नारी मुक्ति के लिए समर्पित इस विद्रोहिणी से मत-भिन्नताओं के बावजूद कहना होगा कि उनकी भाषा और भावनाएं पाठकों को लगातार झकझोरने में सक्षम हैं। तसलीमा ने पुरुष-तंत्र से मुक्ति के लिए जिस आक्रामक शैली और तर्कों का सहारा लिया है, उसमें सामाजिक सरोकार हैं या नहीं— यह प्रश्न हर विवेकशील पाठकों को सोचने के लिए मजबूर कर देगा।

पश्चिमी नारीवादियों की तरह नारी मुक्ति के सवाल को जटिल सैद्धांतिक बहसों में उलझा देने में और खुद को एक सिद्धांतवेत्ता के रूप में पेश करने में तसलीमा को कोई रुचि नहीं है। असंख्य जीवंत घटनाओं, आंकड़ों और वैज्ञानिक तथ्यों को सामग्री बनाकर वह सहज-सरल ढंग से पाठकों को झकझोरने और पुरुषतांत्रिक व्यवस्था की तमाम कुरीतियों के खिलाफ उठ खड़े होने के लिए उन्हें प्रेरित करने में विश्वास रखती हैं। सिर्फ इस्लाम ही नहीं, सभी धर्मों से और खासकर हिंदू धर्म सिद्धांतों से तसलीमा बेहद नफरत करती हैं क्योंकि वह समझती हैं कि धर्म में अगर औरतों को 'माल', 'दासी', 'अबला', 'हीन', 'नीच', 'दया की पात्र', 'पुरुषभोग्या' आदि के रूप में पेश नहीं किया गया होता तो औरतों की आज जैसी दयनीय स्थिति नहीं होती। तसलीमा आज अपने बेबाक विचारों और पैनी लेखनी के कारण चर्चा के केंद्र में हैं। लेकिन नारी मुक्ति के सवाल पर बंगलादेशी धार्मिक कूपमंडूकों के खिलाफ डटे रहने के लिए उन्हें कम कीमत नहीं चुकानी पड़ी। जान हथेली पर लेकर इस वीरांगना ने जो लड़ाई लड़ी है, उसे समझने के लिए तसलीमा की किताबें आवश्यक हैं।

समीक्षा के लिए फिलहाल हमारे पास उनकी चार किताबें हैं। उनमें एक कविता संकलन *तसलीमा नसरीन की कविताएं*, एक उपन्यास *फेरा* के अलावा दो गद्य संकलन *औरत के हक में* और *नष्ट लड़की : नष्ट गद्य* हैं। *औरत के हक में* के अंदर उनकी अन्य रचनाओं के अलावा, *निर्वाचित कलाम* शीर्षक से प्रकाशित उनकी सबसे चर्चित किताब के सभी लेख शामिल हैं। गौरतलब है कि उनके *निर्वाचित कलाम* के लिए *आनंद बाजार पत्रिका* ने उन्हें 1992 में एक लाख रुपये के 'आनंद' पुरस्कार से सम्मानित किया था। 1992 और 1993 में पश्चिम बंगाल व बंगलादेश में तसलीमा सबसे ज्यादा बिकने वाली लेखक थीं। लाखों की संख्या में बिकी उनकी किताबें खासकर उनके गद्य संकलन, आज भी बंगाली पाठकों के लिए संग्रहणीय कुछ किताबों में से हैं।

बाबरी मस्जिद ढहने के बाद आनन-फानन में तसलीमा को प्रकाशकों के आग्रह के कारण दस दिन के अंदर *लज्जा* लिखकर देना था। हिंदी क्षेत्र में मध्ययुगीन मूल्यबोधों के पैरोकारों ने तसलीमा को हिंदुओं के प्रति मेहरबान और 'घोर मुस्लिम विरोधी' के रूप में पेश करते हुए *लज्जा* को जमकर भुनाना चाहा। लेकिन तसलीमा के व्यक्तित्व-कृतित्व को समझने के लिए इसके इतिहास में जाना जरूरी है। मुल्लाओं के खिलाफ तसलीमा की नफरत के बीज 1971 में यानी मुक्ति युद्ध के दौरान पड़े जब मुल्लाओं के जनविरोधी कृत्यों को तसलीमा ने सीधे तौर पर देखा। उन दिनों मात्र 9 वर्ष की उस किशोरी तसलीमा ने एक तरफ अपने तमाम परिजनों को जीवन देते देखा तो दूसरी ओर अपने शहर की बड़ी मस्जिद के उस खूनी इमाम को भी उसने देखा था जिसने अनगिनत मुक्ति योद्धाओं को कत्ल करके कुएं के अंदर डाल दिया। 1981 आते-आते नवयुवती तसलीमा समझ चुकी थी कि 'जय बंगला' गाते हुए शहीद होने वालों के तमाम सपने मर चुके हैं। तसलीमा का सबसे बड़ा अपराध यही है कि वह पाकिस्तानी शासकों के खिलाफ अर्जित आजादी को आज कई आंखों में देखना चाहती हैं। वह कहती हैं :

देश टूटता है, देशवासी टूटते हैं
और विषदंतहीन आदमी
दांत-नाखून समेटे
आवेगहीन देखता रहता है
आतंक-उत्पीड़न।

(विषदंत)

औरतों की व्यथा-कथाओं का वर्णन करते समय *तसलीमा नसरीन की कविताएं* में पुरुष-तंत्र के खिलाफ उनकी कलम धारदार चाकू की तरह चलती है। 'आत्मचरित' से 'आश्रय' (वही, पृष्ठ 129) तक आते-आते उनका ईश्वर और आदमियों से भी भरोसा उठ जाता है और 'कला के कंधे पर रखती हूं विश्वास की थकी हथेली' कहकर वह कलाकारों के सबसे भरोसेमंद आश्रय-स्थल—कला को पकड़ना चाहती हैं। लेकिन मनुष्य और कला के बीच गहरा रिश्ता वह भूल नहीं पातीं :

पूरा जीवन सूना था
किसी का दाय नहीं था देना
तुम इस तरह उंडेल दे रहे हो,
भर दे रहे हो,
खींच ले रहे हो इतने पास
इतना तो मेरा प्राप्य नहीं था।

(प्राप्ति, पृ. 82)

तुम्हें देखकर
मन करता है मर जाऊं। तुम्हारी आग
अगर मेरी मुखाग्नि बने तो मैं मरकर स्वर्ग जाऊंगी।

(सांवरे सलोने, पृ. 162)

कोई भी बीमारी अपना लूंगी अगर तुम आ जाओ
अगर एक बार हाथ रखो बिखरे बालों और माथे पर
पास बैठकर प्यार से छू सको कमजोर हाथ को
दूर होगा असाध्य रोग, मन ही मन स्वस्थ हो जाऊंगी,
खड़ी हो जाऊंगी
चलने लगूंगी और खिड़की की नीली छांह में देखूंगी आकाश।

(हो सकता है तभी भेंट हो, पृ. 170)

मुझे भला क्या जरूरत किसी चीज की
अगर तुम्हें पा लूं
जी करता है पैरों के पास ठहर जाए शीतल नदी
और मैं खो जाऊं।

(अवगाहन, पृ. 171)

अथवा,

मुझे भी अकेली रात बहुत अकेली लगती है
चांदनी के जल में नहाकर ढेर के ढेर दर्द तोड़ लाती हूं
मुझे भी बहुत रुलाती है मुहब्बत।

(जड़ में अनंत भूख, पृ.72)

या फिर, मजाकिया लहजे में वह जब कहती हैं :

तुमने मुझे जहर दिया
और मैंने?
प्यार की गागर
तुम पर उंडेली।

(लेन-देन, पृ. 20)

तो यह कैसे कहा जा सकता है कि वह 'घोर विद्वेषी' और 'जरूरत से ज्यादा नारीवादी' हैं। सच तो यह है कि 'पुरुष-तंत्र' विद्वेषी तसलीमा को पुरुष-तंत्र के पैरोकार और रहनुमा ही 'पुरुष विद्वेषी' के रूप में पेश करना चाहते हैं।

जंजीरें तोड़ी हैं
मैंने हटा दिया है
पान के पत्ते से
संस्कार का चूना।

इस उद्‌घोष के साथ तसलीमा जब कविता के आंगन में प्रवेश करती हैं तब यह उम्मीद करना ही बेमानी है कि वह शैल्पिक बाजीगरी और शृंगार रस से लबालब उसी पुरानी लीक पर टिके रहना पसंद करेंगी। सावधानी से छांटे गए शब्दों की गैर-मौजूदगी के बावजूद उनका हर शब्दाघात इतना घातक है कि पुरुष-तंत्र के पैरोकारों के लिए उसे सहन करना संभव नहीं हो पाता।

तुम्हारे पीछे कुत्तों का झुंड लगा है
ध्यान रखना कुत्तों की देह में होता है रैबिस
तुम्हारे पीछे मर्दों का झुंड लगा है
याद रहे
सिफलिस।

(बचो, बचो, पृ. 14)

दूरी/एक (पृ. 52) में विवाहित नारी की व्यथा-कथा को वह यों वर्णन करती हैं :

पास-पास लेटे हैं दो प्राणी
कोई किसी के भीतर की खबर नहीं जानता।
किसके मन में उड़ता है पंछी, किसका पिंजरा बंद है
कौन सोता है गहरी नींद और किसकी बीतती बिना सोए रात?

और (**दूरी/दो** (पृ. 54) में हम उन्हें यह कहते हुए पाते हैं :-

छुआ है सब कुछ, सिर्फ नहीं छू पाया
दोनों हाथों से संभलकर उस हृदय को।

सिर्फ देहभोग पर आधारित दांपत्य जीवन जीने के लिए अभिशप्त और इसी पिंजरे में आजीवन बंद रहने के लिए विवश औरतों की त्रासदी को 'दूरी' के जरिए वह जब हमारे सामने ला देती हैं, तो पुरुष-तंत्र तसलीमा को नष्ट, भ्रष्ट, चरित्रहीना कहकर शोर मचाने लगता है।

एक लड़के को लड़की खरीदते देखकर तसलीमा की भी यह इच्छा होती है :

इच्छा होती है ऐसे किसी लड़के का कालर पकड़कर
रिक्शे पर खींच लेने की
पेट-गर्दन में गुदगुदी देकर हंसाऊं
घर ले आऊं और हील वाली जूती से
ताबड़तोड़ पीटकर छोड़ दूं–
जा स्साले।

इतना दूर तक शायद बर्दाश्त भी हो। लेकिन तसलीमा की इच्छा थोड़ी और आगे बढ़ती है और वह धमाका करती हैं :

मेरी बड़ी इच्छा होती है लड़का खरीदने की
जवान-जवान लड़के, छाती पर उगे घने बाल
उन्हें खरीदकर, पूरी तरह रौंदकर
सिकुड़े अंडकोश पर जोर से लात मारकर कहूं
भाग स्साले।

(उल्टा खेल, पृ. 70)

यह 'उल्टा खेल', तसलीमा खेलती नहीं हैं, सिर्फ इच्छा भर होती है उनकी। लड़कियों को सिर्फ 'माल' समझने वाले अगर अब भी खुद को बदलने के लिए तैयार नहीं होते, तो यह 'इच्छा' सिर्फ इच्छा तक ही सीमित रहेगी, यह समझना निरी मूर्खता होगी।

'कभी मेरी बहुत इच्छा थी, जिस तरह चार शादियां करके पुरुष चार बीवियों को रखकर जीवन-यापन करने का अधिकार रखता है, उसी तरह मैं भी चार शादियां करके चार पतियों के साथ जीवन बिताऊं। ऐसी घटना से बहुत-सी लड़कियां उत्साहित होतीं। और तभी लोगों में यह चेतना जागती कि जो नियम इस समाज में प्रचलित है उसे उलट देने पर कैसा लगता है। ..... नियम को जब बेहतर बातों से नहीं बदला जा सकता तो उसकी खामियां भी विपरीत नियम के सहारे ही समझानी पड़ती हैं।'

(नष्ट लड़की : नष्ट गद्य, पृ. 88)

प्रचलित तमाम अनियमों को उलट देने के जरिए नियम बहाल करने की बात वह तब करती हैं जब 'बेहतर बातों से' कोई फर्क नहीं पड़ता।

तसलीमा की गद्य रचनाएं व कविताएं पढ़कर कई लोग इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि उन्होंने पश्चिमी नारीवादियों से भी आगे बढ़कर नारीवाद को अंतिम छोर तक पहुंचाने की अतिवादी भूल की है। उनसे यह पूछा जा सकता है कि क्या हर संवेदनशील कलमकार से यही उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि वह वर्तमान की सीमा लांघकर भविष्य की तरफ भी देखें? क्या आज से एक सौ दो वर्ष पहले *नष्टनीड़* में या उससे भी पहले *चित्रांगदा* में रवींद्रनाथ ने मुक्त नारी की जो तस्वीर उकेरी थी, उसे अश्लील नहीं कहा गया था? विवाहित चारु और शादीशुदा अमल के बीच के रिश्ते को टैगोर ने मान्यता तब दी थी जब यह सोचना भी पाप समझा जाता था। और जिस *चित्रांगदा* को 'अश्लीलता' के कारण जलाने की पेशकश करने वालों की अगली कतार में महाकवि द्विजेंद्रलाल राय थे, उसी *चित्रांगदा* के अंग्रेजी में रूपांतरित मंचन को देखकर उन्हीं दिनों ब्रिटिश नारीवादियों के एक दल ने टैगोर से कहा था—"यू आर फार एहेड आफ अस।" (आप हमसे बहुत आगे हैं।) नारी उत्पीड़न और बलात्कारी संस्कृति पर लिजलिजा प्रवचन झाड़ने वालों को क्या पता कि बेड सीन, और कामात्तेजक ब्लू फिल्में, पीड़ित नारी मानसिकता को किस कदर प्रभावित और मोहित कर सकती हैं। तसलीमा को दाद दी जानी चाहिए कि उन्होंने समस्याओं को इस तरह से चिह्नित किया है। उनकी तमाम प्रेम कविताओं को पढ़ने से यह समझने में हमें देर नहीं लगती कि वह तो उस पुरुष के इंतजार में आस लगाए बैठी हुई हैं जो समग्रता से नारी मर्यादा के प्रति चेतनशील है और नारी हृदय के गहरे समुद्र में डुबकी लगाने को आतुर है, जो सिर्फ देहवादी नहीं है।

धर्म के बारे में तसलीमा के विचारों से असहमत होना एक बात है और तसलीमा को सिर्फ इस्लाम विरोधी के रूप में पेश करके राजनीतिक धंधा करना एकदम अलग बात है। हमारे यहां के 'रामभक्त' यह जानकर दंग रह जाएंगे कि तसलीमा 'पाखंडी रावण' से भी राम को ज्यादा पाखंडी समझती है। (*औरत के हक में*, पृ. 69)

हिंदू धर्म को वह सबसे घिनौना धर्म मानती है। वह कहती हैं : 'कई लोगों का सोचना है कि वैदिक युग में भारतवर्ष में नारी को यथोपयुक्त सम्मान या मर्यादा दी जाती थी। इस्लाम के आविर्भाव के बाद वह मर्यादा अचानक लुप्त हो गई। लेकिन मैं इसे मानने को तैयार नहीं।' (*नष्ट लड़की : नष्ट गद्य*, पृ. 22-25)। यह कहते हुए वह हिंदू धर्मग्रंथों से असंख्य उदाहरण सामने रखती हैं। मसलन ईसा पूर्व बारहवीं शताब्दी में रचित *शतपथ ब्राहमण* के उस निर्देश को वह सामने लाती हैं जहां यह कहा गया था कि *भुक्तावाच्छिष्टं बधैव ददात्* (यानी भोजन के बाद जूठन ही पत्नी को देना चाहिए)।

तसलीमा को लगता है कि विनिमय की वस्तु के रूप में, मूल्यवान दासी के रूप में, कीमती सामग्री के रूप में, और सिर्फ भोग की वस्तु के रूप में नारी को 'माल' समझने के आदी लोग धर्मों और संस्कारों से यही सीखते रहे हैं। औरतों के बारे में उसी सोच पर कायम रहने के लिए 'धर्म उन्हें उकसाता है, समाज और राष्ट्र इन्हें प्रश्रय दे रहे हैं।' (*औरत के हक में*, पृ. 13) यही कारण है कि तसलीमा की नजर में धर्म सबसे बड़ा पाखंड है। उसे यह भी लगता है कि अगर आज जैसा चारों तरफ नैराश्य नहीं होता, समाज में हर तरफ भ्रष्टाचार नहीं होता, बेरोजगारी का जाल नहीं बिछा हुआ होता, तो धार्मिक पाखंड के फेरे में कोई भी नहीं फंसता। चौतरफा निराशा के कारण मस्जिदों की तरफ बढ़ते झुंड के युवकों को देखकर तसलीमा हैरान होकर जब यह कहती हैं कि, 'मैं अपने बचपन एवं किशोरावस्था में..... सभी कामकाज से खाली बेकार बूढ़ों को खड़ाऊं खटखटाते और लाठी ठकठकाते धीरे-धीरे मस्जिद की तरफ जाते देखती थी,' (*नष्ट लड़की : नष्ट गद्य*, पृ. 183) तो हमें भी वैष्णो देवी दर्शनार्थी युवाओं को देखकर क्या उनकी तरह हैरानी नहीं होती?

पश्चिमी यौनाचार के बारे में उनका यह कथन कि 'खुले आम सैक्स को ही वे स्वतंत्रता सोच रहे हैं' *(वही)* इस बात का प्रमाण है कि वह महज गुस्सैल और सैक्सी लेखिका नहीं हैं। वह लिखती हैं कि 'नेल्सन मंडेला की मुक्ति के लिए दिन भर जुलूस में जो लड़का चिल्लाकर घर लौटता है, वह भी 'गोरी लड़की के अलावा' किसी अन्य से शादी करना नहीं चाहता।' तसलीमा ठीक ही कहती हैं कि 'सिर्फ अफ्रीका में ही नहीं, तीसरी दुनिया के हर एक घर में गुप्त रूप से रंग भेद लागू है।' (*वही*, पृ. 29)

बंगलादेशी बुद्धिजीवियों के बारे में तसलीमा बहुत कठोर लगती हैं। वह लिखती हैं : 'बुद्धिजीवियों के पास चाहे और कुछ भले न हो, यह तो मानना ही होगा कि 'बुद्धि' होती है। लेकिन दुख इस बात का है कि इस बुद्धि में सरलता से कहीं ज्यादा चतुराई ही होती है।' (*नष्ट लड़की : नष्ट गद्य*, पृ. 18)

बुद्धिजीवियों की अगली कतार में हम बंगलादेश साहित्य अकादमी के महासंचालक को देख सकते हैं जो तसलीमा को उनके खिलाफ प्रदर्शनरत कट्टरपंथियों को खुश रखने के लिए सलाह देते हैं और कहते हैं कि "ऐसा लिखिए कि यह सब 'झमेला' न हो।" लेकिन अड़ियल तसलीमा बहुत ही कड़ियल लहजे में यह कह देती हैं कि : "मेरा सौभाग्य है कि मैं इन बर्बर शिक्षितों से संक्रमित नहीं हुई।' (*वही*, पृ. 27) नारी मुक्ति के प्रति मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों के नजरिए के बारे में तसलीमा यही कहती हैं कि वे लोग बहुत मक्कार हैं। 'देश में समाजवाद न आने तक नारी मुक्ति के लिए बेकार हल्ला मचाने से कोई लाभ नहीं है,' कहकर वे लोग निष्क्रियता का दर्शन का ही प्रचार करते हैं। **आत्मचरित** शीर्षक कविता में वह कहती हैं :

वर्ग शोषण की तकरीरों पर वाहवाही लूटते हैं
चतुर राजनीतिज्ञ,
बड़ी चालाकी से छिपाए रखती है, नारी शोषण की तमाम शब्दावली।
उन सभी चरित्रवान महानुभावों को मैं पहचानती हूं।

कविता क्या है इस पर बहस की रोशनी में तसलीमा की कविताओं पर विचार करते समय हमें यह ध्यान में रखना होगा कि हिंदी में रूपांतरित उनकी कविताओं से हमें आमतौर पर उनकी भावना और विषयवस्तु से ही संतोष करना पड़ेगा। मुनमुन सरकार की कोशिशों के बावजूद तसलीमा की तमाम विशेषताओं को भाषांतरित करना बहुत कठिन काम है। उपन्यास, निबंध, कहानी आदि का माध्यम भी शब्द ही है, लेकिन कविता का माध्यम शब्द के साथ-साथ और कुछ भी है। वह है शब्दों का विन्यास, उसे सजाने और संवारने में कवि की दक्षता। यों तो कविता क्या है, इसे लेकर विवाद बहुत पुराने हैं। आज से 140 वर्ष पूर्व 1855 में *लीव्स आफ ग्रास* के प्रकाशित होते ही सुइनबर्न ने ह्विटमैन की विद्रोह भावना का स्वागत किया था पर वह भी उनकी भाषा (फ्री वर्स) को पसंद नहीं कर सके। उन दिनों अमेरिकी साहित्यकारों और कलाप्रेमियों के बौद्धिक प्रतिनिधि *बोस्टन इनटेलिजेनसर* पत्रिका के 3 मई, 1856 वाले अंक में यह फतवा जारी कर दिया गया कि 'सभ्य समाज में ह्विटमैन को हर जगह लात मारकर भगाया जाए।' ह्विटमैन के 'फ्री वर्स' से चिढ़कर उसने यहां तक कहा कि, 'कैद खाने से भाग निकला पशु से भी अधम ह्विटमैन सिर्फ प्रलाप कर रहा है।' और *चित्रांगदा* को द्विजेंद्रलाल राय ने 'अश्लीलता' के कारण जला डालने का आह्वान किया था। आशय सिर्फ यह है कि प्रचलित विधाओं और मूल्यों को चुनौती देने में सक्षम किसी भी नई कृति को कभी उसकी भाषा तो कभी उसकी भावना के कारण स्वीकार कर पाना खुद को बदलने में अक्षम आलोचकों के लिए

संभव नहीं हो पाता। साहित्य और खासकर काव्य साहित्य को जांचते समय नई भाषा, नवीन भावनाएं और नई विषयवस्तु को पुरानी जगह पर खड़े रहकर जांचते रहने का काम लगातार होता आया है और नए साहित्य के मूल्यांकन में यह बड़ी बाधा है। 'हू किल्ड जॉन कीट्स' नामक मार्मिक कविता में बायरन ने कहा है कि कीट्स की हत्यारी तो *क्वार्टर्ली* पत्रिका ही है। अगर कीट्स के खिलाफ *क्वार्टर्ली* पत्रिका अनथक गाली-गलौज पर न उतरी होती तो कीट्स को मात्र 26 वर्ष की उम्र में नहीं जाना पड़ता। बायरन ने स्पष्ट शब्दों में यही कहा था।

तसलीमा की तमाम किताबों को पढ़ते समय और इस लेखिका को समग्रता से समझने के प्रयास के दौरान बहुतेरी भ्रांतियों से मुक्ति मिल सकेगी।

'वतन से बिछड़े हुए लोगों' के प्रति समर्पित अपने उपन्यास *फेरा* (लौट आना) में तसलीमा ने जिस दर्दनाक ढंग से बंगलादेश छोड़ आने के लिए मजबूर हिंदू शरणार्थियों की व्यथा-कथा का बयान किया है, उसे पढ़ते हुए आंखें भर जाती हैं। 1960 के बाद सांप्रदायिकता के जहर ने बंगलादेश के बंगाली को 'हिंदू बंगाली' और 'मुस्लिम बंगाली' में चिह्नित करने के जरिए एक आतंक का माहौल पैदा किया। और *फेरा* की नायिका, मैमनसिंह के जिलाधीश हरिनारायण राय की लाडली बेटी कल्याणी को सुरक्षा कारणों से कलकत्ता में मामा के घर भेज दिया गया। कल्याणी को कोई कष्ट न हो इसलिए हरिनारायण हर महीने पैसा भेजते रहे, लेकिन फिर भी कल्याणी की मामी उसे घरेलू नौकरानी बनाने पर तुली हुई थी। बाहर से शरीफ नजर आने वाला ममेरा भाई सौमित्र कल्याणी की इज्जत लूटने पर आमादा था। तसलीमा पूछती है : 'कल्याणी को यह कैसी सुरक्षा मिली थी कि विधर्मी मुसलमान युवकों के बलात्कार से बचने के लिए उसे एक दूसरे शहर की गंदी गली में आकर अपने ही एक रिश्तेदार के बलात्कार का शिकार होना पड़ा?' सौमित्र के डर से हर रात जागते रहना उसकी विवशता बन गई, फिर भी, घरेलू नौकरानी का तमाम काम संभालते हुए उसने बी.ए. पास किया। अनिर्वाण से एक रिश्तेदार के घर पर मुलाकात होने के कुछ महीनों के अंदर ही अनिर्वाण के शादी के प्रस्ताव पर कल्याणी ने फौरन हामी भर दी। शायद ममेरे भाई रूपी उस पशु से बचने के लिए ही। लेकिन कल्याणी के लिए अपनी प्यारी मातृभूमि को, अपने पड़ोसियों-सहेलियों को और अपने प्रथम और एकमात्र प्रेमी बादल को भूलना कभी संभव नहीं हो सका। कलकत्ता के दमघोटू विषाक्त वातावरण को, वहां के स्वार्थी लोगों को और यहां तक कि वहां के खान-पान को भी उसने पसंद नहीं किया। बंगलादेश की तुलना में कलकत्ता की हर चीज उसे घटिया लगती रही। हालांकि जहां तक भौतिक सुखों की बात है—कल्याणी अब सुखी थी। अनिर्वाण अब बैंक मैनेजर बन गए थे। वह स्वयं एक बढ़िया स्कूल में स्थायी टीचर थी। कलकत्ता के साल्टलेक में निजी मकान बना हुआ था। लड़की जयिजा एम.ए. (अंतिम वर्ष) में थी और उससे बारह वर्ष छोटा लड़का दीपन स्कूल में पढ़ रहा था। लेकिन इन भौतिक सुखों के होते भी कल्याणी का मन न जाने कहां खोया रहता था? बंगलादेश की मिट्टी से 30 साल पहले उखाड़ा गया कल्याणी रूपी वह पौधा कलकत्ता में फल-फूल न सका। बंगलादेश के नदी नाले, पेड़-पौधों, अड़ोसियों-पड़ोसियों, नाते-रिश्तेदारों से घिरी रहने वाली कल्याणी को अक्सर यह अहसास होता है कि पीछे से कोई आवाज दे रहा है। कल्याणी गहरी सांसें भरती रहती है क्योंकि 'इसी के साथ मुक्त हवा आती थी, सुगंध आती थी और स्मृतियां भी चली आती थीं।'

दिसंबर, 1992 में बाबरी मस्जिद ढह जाने के कई महीनों बाद 1993 की गर्मियों की छुट्टियों में उसने 'अपने देश' जाने के लिए दो पासपोर्ट, दो टिकटों और सौ डालरों का इंतजाम कर लिया। बेटे दीपन को लेकर वह 'वतन' लौटी। कल्याणी का वह प्यारा वतन अब पूरी तरह से बदल गया था। *फेरा* में बदले बंगलादेश का जो चित्रण है, वह देखते ही बनता है। धार्मिक असहिष्णुता आदमी को किस तरह पशु बना देती है और समाज की तमाम अच्छाइयों को नष्ट कर देती है, इसका बेबाक और मार्मिक चित्र खींचने में तसलीमा ने बेजोड़ संवेदनशीलता और परिपक्वता का प्रदर्शन किया है। कल्याणी की सबसे प्यारी सहेली शरीफा 30 साल बाद उसे देखकर एकदम खुश नहीं होती। उसका पति लंपट निगाह से उसे घूरता रहता है और उसके बच्चे खेल-खेल में दीपन को समझा देते हैं कि हिंदुओं को चुन-चुनकर कत्ल कर देना मुसलमानों का फर्ज है। दीपन जब यह बात कल्याणी को बताता है तो उसका दिल धड़कने लगता है। कल्याणी के पुश्तैनी विशाल मकान और बगीचे पर दूसरों का कब्जा हो गया था और उसकी काया पलट गई थी। उसके दादाजी के लगाए बूढ़े जामुन के पेड़ अपनी जगह पर कायम थे। उसे ही दोनों हाथों से जकड़ते हुए कल्याणी फफक पड़ी तो मजमा इकट्ठा हो गया। संवेदनशून्य उस भीड़ में सहानुभूति जताने वाला कोई भी नहीं था। तभी अचानक एक सज्जन बूढ़े मुसलमान ने कल्याणी को प्यार से बेटी बोलकर पुकारा और खड़े तमाशबीनों को गालियां देते हुए कहा, "ये लोग भला इंसान हैं? सब हैवान हो गए। हैवान! जमीन-जयदाद अब यहां भले ही न रहे, बेटी इस देश में दो-चार भले लोग अभी भी हैं।" उस बूढ़े सज्जन के बाद ही दीदी-दीदी पुकारते हुए एक नौजवान उससे आकर मिलता है। वह कल्याणी की सहेली रुखसाना का छोटा भाई स्वप्न था, जिसे कल्याणी भी भूल चुकी थी। स्वप्न उसे बहुत सम्मान के साथ अपने घर ले आता है और उसका पत्नी लिपि बहुत आत्मीयता के साथ कल्याणी से मिलती है। यह शहर उसका अपना है, यह सोचकर कल्याणी का दिल भर आता है।

तसलीमा बेजोड़ कलमकार हैं। इशारे-इशारे में वह यह भी कह जाती हैं कि प्रगतिवादी शिक्षित मुसलमान और असंस्कृत अशिक्षित मुसलमानों के अंदर फर्क को समझना बेहद जरूरी है। रुखसाना के भाई स्वप्न और उसकी पत्नी लिपि के नाम हिंदुओं के अनुरूप हैं। उन लोगों का सिर्फ एक छह साल को बेटा है। लेकिन शरीफा कल्याणी को बताती है कि 'अल्लाह की रहमत से मेरी पांच लड़कियां और दो लड़के हैं।' स्वप्न और कल्याणी के बीच वार्तालाप को माध्यम बनाकर तसलीमा अपने बहुचर्चित कथनों को फिर से हमें सुना देती हैं। स्वप्न कल्याणी को समझाता है कि वह 'वतन' अब नहीं रहा जिसे देखने के लिए कल्याणी तड़प रही है। वह उदास होकर कहता है : "इस देश में सबसे ज्यादा सुखी रजाकार हैं। मुक्ति योद्धा भूखे पेट रहते हैं, मरते हैं। उन मुक्ति योद्धाओं की हालत बेहतर है जिन्होंने रजाकारों से अपना ताल-मेल बिठा रखा है। तभी वे जिंदा हैं।" लेकिन कल्याणी फिर भी आशावादी है। वह स्वप्न को समझाती है : "एक भाषा और एक संस्कृति धर्म की दीवार को एक दिन जरूर तोड़ने में सफल होगी।"

कल्याणी अपने अतीत को छूने के लिए वतन लौटी थी और मात्र दो दिनों के अंदर ही वह पूरी तरह निराश होकर कलकत्ता लौट रही थी। उसे अब डर लगने लगा था। किस मुंह से वह अनिर्वाण का सामना करेगी। क्या मिला तुम्हें अपने वतन में ..... इस सवाल का वह किस तरह सामना कर सकेगी, यह चिंता उसे खाए जा रही थी। मायके से ससुराल लौटकर कोई लाड़ली बेटी अपने मायके की निंदा भला कैसे कर सकती है? उपन्यास के अंत में आकर तसलीमा ने इस संवेदनशील और नाजुक मामले को सुलझाने के लिए जो कहानी गढ़ी है वह इतनी मार्मिक है कि पाठक स्तब्ध रह जाएंगे।

कलकत्ता लौटते वक्त बस में, कल्याणी दीपन को बार-बार यही पाठ पढ़ाती है कि बंगलादेश में उसकी बहुत खातिरदारी हुई है। लोगों ने बहुत प्यार दिया। चश्मदीद गवाह के बतौर उसे दीपन को अनिर्वाण के सामने

पेश जो करना था। हर एक 'सकारात्मक' पहलू गिनाते और समझाते हुए वह जब दीपन से पूछती है, "ऐसा कहोगे न बेटा?" तो कोई भी संवेदनशील पाठक कल्याणी की खुशी के लिए दीपन की तरह ही कह उठेगा, "हां, जरूर कहूंगा।"

फिर भी इस उपन्यास में दो खामियां बहुत खटकी हैं। क्या बाबरी मस्जिद की दुखद घटना के बाद, बंगलादेश में हिंदू विरोधी सांप्रदायिक माहौल में ही आठ-नौ साल के बेटे को लेकर कल्याणी को 'वतन' लौटना था? वह कोई अनपढ़ और अनजान औरत तो थी नहीं। दूसरी ओर वह इस किस्म की आजाद महिला भी नहीं कि पति और ससुराल के तमाम रिश्तेदारों की आपत्तियों को ठुकराकर, एक शत्रु देश (उनकी नजरों में) में अपने कुल के दीपक को ले जाए। एक और सवाल उठता है कि 80 के दशक में कलकत्ता का शिक्षित बंगाली मध्यवर्गीय यह बात गले उतार चुका था कि 'एक से ज्यादा बच्चा नहीं चाहे वह लड़की ही क्यों न हो।' लेकिन उसी 80 के दशक में कल्याणी जैसी पढ़ी-लिखी, आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर, संघर्षशीला और बेहद तनावपूर्ण स्थिति में अकेली भी बंगलादेश जाने को तत्पर औरत बारह वर्ष तक लड़का न होने के अंदेशे में बार-बार गर्भपात करवाती रही? इन प्रश्नों के बावजूद *फेरा* एक शानदार उपन्यास है।

अमर गोस्वामी का अनुवाद बहुत जीवंत बन पड़ा है। इस शृंखला की बाकी तीनों किताबों का मुनमुन सरकार ने अनुवाद किया है। *तसलीमा नसरीन की कविताएं* में शाब्दिक और बेजान अनुवाद से बचा जा सकता था। कहीं-कहीं अप्रचलित हिंदी शब्दों, कहीं-कहीं दंतावलियां जैसे संस्कृत शब्द और कहीं-कहीं बंगला शब्दों के प्रयोग के कारण भी पाठकों को दिक्कतें पेश आ सकती हैं। मसलन 'हक' को 'प्राप्य', जिम्मे को 'दाय' आदि लिखने की कोई तुक नहीं थी।

उम्मीद की जानी चाहिए कि अगले संस्करण में इन बातों का ध्यान रखा जाएगा।

अमर गोस्वामी ने शीतलक्खा नदी को मुनमुन की तरह शीतल नदी बना डालने से परहेज बहुत ठीक किया है। ❑

औरत के हक में; पृष्ठ संख्या : 192; मूल्य : 100 रुपये।

फेरा; पृष्ठ संख्या : 104; मूल्य : 55 रुपये।

नष्ट लड़की : नष्ट गद्य; पृष्ठ संख्या : 205; मूल्य : 100 रुपये।

तसलीमा नसरीन की कविताएं; पृष्ठ संख्या : 176; मूल्य : 95 रुपये।

चारों पुस्तकों की लेखिका : तसलीमा नसरीन; प्रकाशक : वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली

पंजाबी

जीवन के गहन अर्थों की चिरंतन खोज

अमरजीत सिंह

... वृक्ष से बड़ा ऋषि और भला कौन है
धूप में ठंड में अचल समाधि है
बरखा में सूखे में अटल अविचल
सुगंध का प्रवचन
तेरा फूल प्रसाद
फलों का अटूट तेरा लंगर
लौट आओ, वृक्षदेव, लौट आओ, तुम ही ऋषि देव

ये हैं पंक्तियां सरस्वती सम्मान से विभूषित काव्यकृति *रूख और ऋषि* की। आत्मचरितात्मक स्वरूप लिए हुए, प्रयोगात्मक प्रतिच्छवियों पर आधारित यह एक गंभीर दार्शनिक कृति है। कविता अनंत ब्रह्मांड, अनंत काल, गहन नीरवता, ईश्वर को संबोधित है। यह आह्वान पारंपरिक धार्मिक प्रार्थना का पर्याय नहीं है। यह मनुष्य की वह मूलभूत चाह है, जो एक वृक्ष की ध्यानावस्था, मंद पवन की सुगंध, हरी पत्तियों की सुमधुर ध्वनि को एक साथ चाहती है। मौन की भाषा का सौष्ठव, इतिहास और भूगोल की सीमाओं को तोड़ने की इच्छा, धरती में जड़ें जमाने की आकांक्षा किंतु साथ ही अनंत आकाश में सिर उठाने की अभिलाषा है।

निर्वैयक्तिकता कविता की एक बड़ी शक्ति है। इस गुण को जो कवि जिस सीमा तक साध सकता है, उसकी कविता उतनी ही महान होती है।

पंजाबी के मूर्धन्य कवि हरभजन सिंह की यह रचना वास्तव में एक अलग किस्म के चेहरे वाली है। अपने समकालीनों में तो उनकी एक अलग ही पहचान है, परंतु इस रचना में वह अपने आप से भी अलग हो गए हैं। कथ्य और रूप दोनों ही स्तरों पर उन्होंने पुराने हरभजन सिंह से एक फासला तय कर लिया है।

रूख और ऋषि अपने कथ्य में आत्मचरितात्मक विवादों, सामाजिक-राजनीतिक आंदोलनों, धार्मिक रहस्यों, परंपरागत बंधनों और उनकी दासता, एक योगी के स्वभाव के रहस्यों, प्रेम और यौन-संबंधों की पहेलियों, मौलिक और आध्यात्मिक तनावों – ऐसी ही अन्य उलझनों का मिला-जुला बहुरंगी चित्र प्रस्तुत करती है।

यह लंबी कविता प्रथम व्यक्ति के कथन से शुरू होती है, जिसमें नायक अपने आप को एक ऐसे वृक्ष से एकाकार करता है, जो अपने ही घर में चल रहा है :

अपने ही घर में घूमता-फिरता एक वृक्ष हूं मैं
सोता-जागता भी हूं मैं
अपने भीतर से मुझे सुगंध भी आती है
फल भी लगते रहे मुझ पर
चाहे मैं अपने फल का नाम नहीं जानता
भ्रम रहा हमेशा
कि यह बड़ा अमूल्य फल है
और यह भ्रम आज भी टूटा कहां है?

यह काव्य रचना कबीर, पूरन और बुद्ध के आदर्श पर ढाली गई है। कबीर जो जन्म लेते ही मां-बाप से बिछुड़ गए थे; पूरन जो घर, परिवार, समाज और शहर से निकाल दिए गए थे; और बुद्ध जो सब कुछ त्यागकर अनजान रास्तों पर निकल पड़े थे:

घर से जब आया था
तब वह उषाकाल था
और अब था वह शिखर दोपहरी का मार्तंड
अपने प्रकाश में जलता, दहकता, झुलसता
धुंआ छोड़ता

नायक एक ऐसा वृक्ष है जिसे विश्वासघात आहत करते हैं। वह हर बार स्वयं को पुनर्जीवित करता है, एक ताजगी अनुभव करता है। वह अपने

वासंती सौंदर्य के साथ कहीं और जाना चाहता है :

और अब अपनी बहार समेत
चला जाना चाहता हूं कहीं और
बहुत दिन बैठ लिया
अब उठूं यहां से।

कविता के प्रति हरभजन सिंह का रुझान बचपन से ही था। उनकी पहली कविता पुस्तक *लासां* 1957 में प्रकाशित हुई और एक वर्ष बाद *तार तुपका* लोगों के बीच आई। यह दूसरी कृति एक लंबी नाट्य कविता है, जो कभी न समाप्त होने वाले विषयों से मोहभंग के साथ आरंभ होकर धीरे-धीरे करुणा और संवेदना के हरे-भरे वन-उपवन में पहुंच जाती है। 1967 में प्रकाशित काव्य संग्रह *न धुप्पे न छावें* को साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त हुआ। तत्पश्चात उन्हें कबीर सम्मान (1988) से सम्मानित किया गया।

चर्चित कृति में कवि के हृदय में रूख (वृक्ष) और ऋषि दोनों एक ही रूपक अथवा मैटाफर बनकर जुड़े हुए हैं। कवि एक ऐसे मनुष्य की बात करता है जो वृक्ष की तरह परोपकारी हो और देश, काल, धर्म, भाषा आदि के भेद से परे हो। मानव वृक्ष की तरह लोगों को छाया दे, हवा में सुगंध भर दे, अपने फलों से दूसरों की भूख मिटाए।

मनुष्य सारी प्रकृति में सिरमौर है। उसमें और भी सुंदर, अच्छा हो सकने की संभावना है।

दीवारों की छाया में बैठा आज का कृत्रिम मनुष्य कभी पेड़ों की छाया में बैठा एक प्राकृतिक मनुष्य था। वही मनुष्य कवि की चेतना में बसा हुआ है। उसी मनुष्य में वह ऋषियों जैसे गुण देखता है।

जब वह रूख बनने अथवा ऋषि बनने की बात करता है तो उसके मूल में इसी परंपरा से जुड़े रहने की भावना निहित रहती है:

अपने भूमंडल से टूटकर
जड़हीन वृक्ष सदा सूखते हैं
समय या स्थान से दूर जाते देखे नहीं किसी ने ...
अभी भी लौट आओ

पत्ते भी हरे हैं
तेरे फूल भी महकते

कवि कहता है कि गंगा से दूर जाओगे तो दलदल में फंस जाओगे। दलदल हमारे चारों ओर फैली हुई है। वह उसे पहचानने और ऋषियों जैसी निर्मल बुद्धि से उस पर विवेचन और मनन करने की बात करता है। उसका कविधर्म भाषा और पोथियों के घेरे में आने वाले सभ्याचार से बेसुध है, उसका आदर्श कोई विशाल वृक्ष जैसा मनुष्य है, जो हर घेरे से बाहर है। वह परेशान है कि वृक्ष के कोटरों में नाग बसते हैं:

घर से जब चला था मैं
कोटर का नाग चुपचाप मेरे साथ था
मैंने कई बार कहा :
भाई नाग, अब तू जा यहां से
तुझे संग लेकर कैसे जाऊंगा ऋषि के सामने
कैसे हो सकूंगा मैं सच्चा और निर्मल!

आज मानवीय जीवन में इतने दुख हैं, वे परस्पर इतने अधिक उलझ गए हैं कि कुछ नया रचने की आकुलता कवि के मन में है। वह वाणी और अक्षरों के बीच एक संतुलन कायम करने का पक्षधर है:

पोथियों का बोझ अब नहीं उठाया जाता
उतनी ही काफी है
जो लिखी गई माथे में

अनंत काल से मानव ने अपने भीतर के अंधकार को दूर करने के लिए नियमों, सिद्धांतों तथा दार्शनिकता के दीए जलाए हुए हैं परंतु अंधकार आदि-युगादि से मनुष्य के साथ-साथ चलता आ रहा है। क्या मनुष्य इस अंधेरे से अलग कभी नहीं होता? क्या उसके जाने के बाद भी उसका त्रास बना रहता है? ऐसे कुछ प्रश्न हैं जो कवि को विचलित किए हुए हैं:

मनुष्य अलग नहीं होता कभी अंधेरे से
अंधेरा चला जाए
दहशत रह जाती है।

कविता के दूसरे भाग का छठा खंड स्वयं में अत्यंत सुंदर, भावपूर्ण तथा एक संपूर्ण काव्य-खंड है। यही समूची रचना का सार-तत्व है। व्यक्ति केवल तलाश को अपने साथ लेकर ऐसी तंग गली से गुजर रहा है जिसके चतुर्दिक आकाश तक सीधी-सपाट दीवारें हैं; न कहीं कोई खिड़की है और न ही दीया जलाकर रखने के लिए कोई झरोखा। पूरी खामोशी छाई हुई है और भयभीत करने वाला एकांत। ऐसा लगता है कि क्षण-प्रति-क्षण दीवारें धीरे-धीरे सरकती हुई परस्पर निकट होती जा रही हैं और व्यक्ति इन दीवारों के बीच कहीं दब जाएगा। पर उसी क्षण ऊपर, दूर, बहुत दूर अंबर में एक मद्धम-सी लौ जलती महसूस होती है जो सूर्य के उदय होने का इकरार है और फिर दीवारों में कोई खिड़की खुल जाती है। घोर निराशा में भी आशा की एक नई किरण का जन्म होता है:

कौन-सी गली में से चला जा रहा हूं मैं
मेरे संग-साथ सिर्फ मेरी तलाश है ...
गली के दोनों तरफ सीधी-सपाट दीवारें
छूती हुई आसमान
दीवारों में नहीं कोई दरवाजा, खिड़की या रोशनदान ...
नहीं कोई आला न झरोखा न मुंडेर है
दीया जला रखने की कोई भी जगह नहीं ...
ऊपर दूर बहुत दूर
आकाश की परछाईं
मद्धम-सी लौ
इकरार सूर्योदय का !

हिंदी एवं डोगरी की सुपरिचित हस्ताक्षर पद्मा सचदेव द्वारा इस लंबी कविता का हिंदी अनुवाद एक सराहनीय प्रयास कहा जा सकता है; परंतु रचना के कतिपय शब्दों, पंक्तियों अथवा खंडों का यदि और भी अर्थपूर्ण तथा प्रांजल अनुवाद होता तो पाठक उसका पूरा-पूरा रसास्वादन कर पाने में समर्थ होते।

कविता में मात्र भाषा के अनुवाद की समस्या नहीं होती वरन् उसकी नाद-योजना के साथ उसका छंदविधान, शब्द चयन, अलंकार विधान आदि कई तत्व ऐसे होते हैं जो अनुवाद के लिए चुनौती होते हैं। अनुवाद के समय उनकी सादृश्यता तथा अनुकूलता अवश्य बनी रहनी चाहिए।

पंजाबी भाषा के अपने ठेठ शब्द हैं, उनकी ध्वनियां हैं, उनके सहज जातीय एवं ऐतिहासिक संदर्भ हैं। कभी-कभी पंजाबी से अनुवाद (विशेषकर

कविता के क्षेत्र में) करने की प्रक्रिया में शब्द अपनी पंखुड़ियां बंद कर लेते हैं। हरभजन सिंह अपनी मिट्टी में गहरे रचे-बसे हैं। कई स्थानों पर उनके द्वारा प्रयोग किए गए शब्द इतने ठेठ होते हैं कि अनुवाद प्रक्रिया में वे अनुवादक को छलने की सामर्थ्य रखते हैं। फिर संदर्भों से अनभिज्ञ पाठक कवि द्वारा शब्दों के सहारे बनाए गए बिंबों को गहराई से अनुभव नहीं कर पाते।

जैसे पृष्ठ 75 पर 'भाल' शब्द पंजाबी में 'ढूंढने' या 'खोज' के अर्थ में प्रयोग होता है। अनुवाद में उसका अर्थ 'माथे' के अर्थ में हुआ है। पृष्ठ 87 पर पंजाबी शब्द 'मूरतां' (तस्वीरें) का अनुवाद मूर्तियों के अर्थ में किया गया है। पृष्ठ 89 पर इसी गलती को दोहराया गया है। पंजाबी शब्द 'रवां-रवां' पंजाबी लोक जीवन में 'सहजे-सहजे' अर्थात 'धीरे-धीरे' के अर्थ में प्रयोग होता है जबकि इसको रूपांतरित करते समय 'रवानी' के संदर्भ में प्रयोग किया गया है। पृष्ठ 53, 59, 65, 79, 107, 111 पर ऐसी ही गलतियों की पुनरावृत्ति हुई है।

पूरी कृति का उचित संपादन भी अभीष्ट था क्योंकि मूल पंजाबी का हिंदी लिप्यंतर करते समय वर्तनी की गलतियों को भी कई स्थानों पर देखा जा सकता है (पृष्ठ 24, 73, 108, 150)।

चोला टाकियांवाला हरभजन सिंह द्वारा लिखित उनकी आत्मकथा है। बहुत अकेला है उनका बचपन। न माता, न पिता, न भाई, न बहन। ऐसा कोई सगा-संबंधी नहीं जिससे वह अपनी मन की व्यथा कह सकते। गैरहाजिरी की बहुत बड़ी भूमिका है उनके जीवन में। अपने बिछुड़ गए स्वजनों पर उन्होंने उम्र के निशान नहीं देखे। बिछुड़ गए तथ्य उन्हें मिथकीय सत्य से मालामाल कर गए। इसी तनाव में उनकी कविता ने जन्म लिया:

चिर होआ मेरे मीत गुआचे
दिल मेरे दिलगीरी
हुणे हुणे मेरा गीत गुआचा
जीकण वक्त अखीरी

(बहुत दिन हो गए, मेरे स्वजन मुझसे बिछुड़ गए। मेरा मन उदास हो उठा। अभी-अभी मुझसे मेरा गीत खो गया है, जैसे अंतिम समय आ गया हो)।

बचपन में पूरन का किरदार किस तरह से उनके मानस पटल पर छाया हुआ था इसका वर्णन वह अपनी आत्मकथा में करते हैं :

'पूरन तो धीरे-धीरे मेरे अचेतन का अंग बनता गया। कई बार मैं अपने एकांत में चौंक उठता जैसे पूरन अचानक मेरे सामने प्रकट हो गया हो!'

हरभजन सिंह का जन्म असम के एक छोटे से कस्बे लुमडिंग में 1919 में हुआ था। अंग्रेजी तथा हिंदी में एम.ए. करने के पश्चात उन्होंने हिंदी में पी-एच.डी. की उपाधि अर्जित की तथा दिल्ली में अध्यापन का कार्य आरंभ किया। बाद में दिल्ली विश्वविद्यालय के आधुनिक भारतीय भाषाओं के विभाग में पंजाबी के प्रोफेसर नियुक्त हुए। समकालीन भारतीय संस्कृति एवं साहित्य पर विपुल लेखन के साथ-साथ वह विभिन्न विश्वविद्यालयों में व्याख्यान भी देते रहे।

साहित्य अकादमी के महत्तर सदस्य (फैलो ऑफ एकेडमी) हरभजन सिंह अब तक 16 काव्य संग्रह तथा 20 से अधिक आलोचनात्मक पुस्तकें लिख चुके हैं। अनुवाद के क्षेत्र में भी उनका योगदान सराहनीय है।

हरभजन सिंह उन गिने-चुने कवियों में से हैं जिनका व्यक्तित्व उनकी कविता में पूरी तरह एकाकार है। इसी कारण उनकी आत्मकथा उनकी जीवन-यात्रा का ही नहीं, उनकी काव्य-यात्रा का भी एक प्रामाणिक दस्तावेज बन जाती है। उनका विश्वास है –

'सुंदरता मेरे लिए कोई संकल्प नहीं, अपनी विशेष स्थिति से देखे हुए संसार का जीता-जागता अनुभव है। इसी अनुभव का शब्द-रूप है मेरी कविता।'

'मादरी लय' अध्याय के अंतर्गत उन्होंने लिखा है :

'कुछ लोगों को मेरी कविता का अर्थ समझ नहीं आता। खुद मुझे अपने आप से यही शिकायत है। मुझे आज तक अपने होने का अर्थ पता नहीं लगा, पर मैं अंदर दौड़ते लहू की लय से वाकिफ हूं। ... बहुत बार मुझे लय पहले मिलती है, कविता के शब्द बाद में मिलते हैं।'

कबीर सम्मान प्राप्त होने के बाद उनको भोपाल में भारत भवन देखने का अवसर मिला। 'भारत भवन में पांच दिन' अध्याय में इसी यात्रा और वहां के अनुभवों का वर्णन किया गया है।

दिल्ली से भोपाल तक मार्ग में निरंतर वर्षा होती रही। भोपाल में गाड़ी से उतरते समय भी जैसे मेघ उनसे विच्छिन्न नहीं होना चाहते थे। उन्हें याद आ रही थीं अपनी विस्मृत कविता की कुछ पंक्तियां :

चल बदलां चों लंघिए न संगिए
चल चलिए चन्न दे कोल
चल बदलां तों जा के पानी मंगिए
नाल कणियां दे भरिए झोल

(चल साथी, बादलों से गुजरें और चांद के पास चलें। आओ, बादलों से जाकर पानी मांगें और साथ ही जलकणों से झोली भर लें।)

'वागर्थ' में अपने कविता पाठ के समय वहां के श्रोताओं द्वारा दिखाई गई सहृदयता तथा गहरी आत्मीयता की अमिट छाप कवि के मन पर है।

'आत्मकथा' साहित्य की एक ऐसी विधा है, जिसमें निजी विचारों, निजी पसंद और नापसंद की घुसपैठ की बहुत गुंजाइश रहती है। यही कारण है कि साहित्य के पटल पर अनेक लेखक और कवियों की आत्मकथाएं थोड़ी देर के लिए चमकीं और फिर लोग उनको भूल गए। कहने की जरूरत नहीं कि ऐसी आत्मकथाओं में मन को सराबोर करने की रत्ती-भर शक्ति नहीं होती। परंतु यह रचना इस दृष्टि से पूरी तरह अलग है। इसके लेखक ने अपने परिचितों और साथियों का एक ऐसा संतुलित मूल्यांकन प्रस्तुत किया है जिसमें एक ताजगी है और आंदोलित करने की क्षमता भी।

पुस्तक को 31 अध्यायों में विभाजित किया गया है। 'कोटा और परकोटा' में असम में रहते समय की स्मृतियां संकलित की गई हैं। 'देशनिकाला' अध्याय में असम से लौट आने और लाहौर में आकर बसने की कहानी है। 'तेरी नजर से परे' में दिल्ली प्रवास की बात कही गई है, जहां उनका नए मित्रों से परिचय होता है, विशेषकर पंजाबी के प्रसिद्ध कवि स्वर्गीय 'मीशा' के संबंध में उनकी मीठी स्मृतियां इस अध्याय में संकलित की गई हैं।

इस आत्मकथा में जिंदगी की सिलसिलेवार लिखी उस तरह की कहानी नहीं है जैसी कि साधारणतया आत्मकथा साहित्य में वर्णित होती है, बल्कि यह रचना उनके समय-समय पर अपने तथा कविता के संदर्भ में लिखे लेखों का ही एक संकलन है। यही कारण है कि इसके कई अध्यायों में एक ही बात को फिर से दोहराया गया है।

'हिंदी कविता : आरंभिक प्रभाव' में लेखक हिंदी के प्रति बचपन से ही अपने अपनत्व की बात कहता है। गुरुवाणी का बहुत सारा हिस्सा गुरुमुखी लिपि में हिंदी या ब्रज भाषा में ही है। यही कारण है कि लेखक के अचेतन में यही वाणी का रूप कहीं गहरा बैठा हुआ है। उनका कहना है –

'हिंदी मेरे लिए केवल स्कूली विषय नहीं, यह मेरी आस्था का वाहक है। उसी के माध्यम से मैं कभी-कभी ईश्वर से बातचीत करता हूं।'

आत्मकथा के 'टोटल कविता' अध्याय में हरभजन सिंह का मानना है कि उनकी कविता का मूल आधार विंब ही है।

हरभजन सिंह का अनुवाद के क्षेत्र में भी एक बड़ा योगदान है। अपने 'अनुवाद' अध्याय में उन्होंने अपने उन मित्रों और सहयोगियों का बड़ी सहृदयता से जिक्र किया है जिन्होंने उन्हें पंजाबी में ऋग्वेद के 22 सूक्तों तथा टैगोर साहित्य को रूपांतरित करने में उनकी सहायता की तथा मार्गदर्शन किया।

काव्य-यात्रा के इस दस्तावेज में आपको कवि के मार्ग में नदी, हरे-भरे खेत, वर्फ ढकी पहाड़ियां, वृक्षों से भरे जंगल कम मिलेंगे। बल्कि उसकी राह उस जंगल से होकर गुजरती है जहां वृक्ष-वूटा कोई नहीं, उसकी परछाइयां ही हैं:

इस जंगल विच परछावें ही परछावें ने
बिरछ किते नजर न आवें

(इस जंगल में केवल परछाइयां ही वची हैं। कहीं वृक्ष नजर नहीं आता।)

नरेश नदीम का अनुवाद सुंदर है। इसके लिए वह वधाई के पात्र हैं।

चर्चित पुस्तकें

1. **रूख और ऋषि;** पृष्ठ संख्या : 205; मूल्य : 150 रुपए।
2. **चोला टाकियांवाला,** पृष्ठ संख्या : 288; मूल्य : 200 रुपए।

दोनों के लेखक : हरभजन सिंह; प्रकाशक : सारांश प्रकाशन, नई दिल्ली

सामाजिक विसंगतियों का लेखा

पृष्ठ 49 से आगे

का पुराना ढांचा गिर नहीं जाता और नया ढांचा तैयार नहीं कर लिया जाता, मैं राजनीति से कदापि मुंह नहीं मोड़ सकता।

लोक संवेदना और लोकजागरण की क्रांतिकारी भावनाओं से जुड़े तेंः फेम्यिं ने राजनीतिक क्षेत्र में अनुभूत यथार्थ 'सब ठीक-ठाक है' कहानी के अंत में ज्यों-का-त्यों रखने का प्रयास किया है – 'यह लेखक, जिसे अमरीकी विदेश मंत्रालय वर्मा का नंबर एक कम्युनिस्ट मानता है, जिसे वर्मा सरकार की पुलिस एवं सुप्रीम कोर्ट एक भयानक कम्युनिस्ट समझते हैं, जिसे तखिन् सोः सुवर्ण देश के संत और देश की जनता टैफोंः जी यानी अद्वितीय भिक्षु नाम से संवोधित करती है, वार-वार यूं ही चिंता में डूवा हुआ है। सवाल है, कि मौं ति और भैईमौं क्या दोवारा अपने गांव कभी जा पाएंगे?'

'काला जवाहर' कहानी तिस्सा या सेंइनै नामक कुतिया के इर्द-गिर्द घूमते प्रसंगों से जुड़ी है। उसके चमकीले काले रंग के अनुरूप ही सेंइनै नाम दिया गया है जिसका अर्थ है 'काला जवाहर'। यह एक ऐसी मूक प्राणी है जो निम्न और मध्यम वर्ग द्वारा पूर्णरूपेण तिरस्कृत है। हालांकि कुत्ता उच्च वर्ग में सामाजिक सम्मान और समृद्धि का प्रतीक माना जाता है। कुत्ते में वफादारी का महत्वपूर्ण गुण विद्यमान है जो इस कहानी में एक नए रूप में उभरा है। मालिक और उसके वच्चों के प्रति वफादार 'काला जवाहर' अंततः अपने प्रेमी कुत्ते को ठुकराकर त्याग के नए मानदंड स्थापित करती है। यह कहानी अपनी प्रस्तुति में श्रेष्ठता की सीमा को छूती है और सामाजिक विसंगतियों को उजागर करती है।

'बूढ़े अध्यापक की समस्या' कहानी में लेखक ने मानव मन के गूढ़तम रहस्यों को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। लेखक ने छोटी-से-छोटी वह बात भी छूने की कोशिश की है जो मानव मन की कमजोरी कही जाती है। एक वूढ़े अध्यापक का किसी नवयुवती को देखकर यौवनोन्मुख हो जाना क्या वास्तव में दुर्वलता है या प्रवृत्तिगत विवशता। भोगी और रोगी मन के लिए सौंदर्य उद्दीपन का कार्य करता है। एक युवती के अंगों के उभार और उसका खिले फूल-सा यौवन आतुर मन को उत्फुल्लित करने के लिए उद्दीपन जैसा ही मनोवैज्ञानिक प्रभाव उत्पन्न करते हैं। इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस कहानी में सफलतापूर्वक हुआ है। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित ऐसी ही कहानियां हैं – 'कानूनी दायरा' और 'अंधेड़ कुंआरा'। कहानी का अंतिम वाक्य, 'उस वर्वर रात की तरह रक्त रहित चेहरा दोबारा कभी भी चांद जैसी मातांची के चेहरे पर ग्रहण नहीं लगा पाएगा।' मनुष्य के अंदर विद्यमान सत्य, शिव और सुंदर को उद्घाटित करता है।

'टूटा चप्पू', 'मेरा पैसा मेरा खसम', 'वह युवती', 'गीत गाते रोता हूं' प्रस्तुत संग्रह की अन्य उल्लेखनीय कहानियां हैं। कथा, शिल्प एवं भाषा की सहजता और प्रवाह कहानियों को संप्रेषणीय बनाते हैं। मुहावरेदार भाषा का सुंदर प्रवाह वहुत ही स्वाभाविक है, जिसमें अनुवादक का भी पूरा योगदान है। संग्रह की साज-सज्जा सुंदर है और ये कहानियां वर्मी लोक मानस और समकालीन संदर्भों और सर्जक के सरोकार से जुड़ी प्रतीत होती हैं।

काला जवाहर : क तेंः फेम्यि; अनुवाद : चंद्रप्रकाश प्रभाकर : इरावती पब्लिकेशंस, सी-487, विकासपुरी; नई दिल्ली; पृ.संख्या : 199; मूल्यः 100 रुपये।

पाठकों से

स्थानाभाव के कारण, से.रा. यात्री की पूर्व-घोषित कहानी इस अंक में नहीं जा सकी। यह कहानी अगले अंक में प्रकाशित हो रही है।

इसके अलावा कुछ और अनूदित पुस्तकों की समीक्षाएं भी मार्च 96 अंक में प्रकाशित होंगी।

जनवरी 96 के अंक में 'प्रसंग' के अंतर्गत **मेडिसन कॉविन** की कविता 'वेस्ट लैंड' के अनुवाद का शीर्षक **'बंजर प्रदेश' है। इसी** कविता के अंतिम पैरा में भूल से 'सिताव' की जगह **'किताब'** चला गया, जिसका हमें खेद है।

— संपादक

विंसेंट शीन

गांधीजी

एक महात्मा की संक्षिप्त जीवनी

विंसेंट शीन की प्रसिद्ध पुस्तक 'ए ग्रेट लाइफ इन ब्रीफ' पहली बार हिंदी में

मूल्य : 50 रुपये

संपर्क :
व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग
पटियाला हाउस
नई दिल्ली - 110001

डाक तार पंजीयन सं. (डा. एल.) 12035/96 बिना पूर्व भुगतान के डा. पा. एस. ओ., दिल्ली से पोस्ट करने का लिए लाइसेंस
यू (डी.एन.)-49 प्राप्त
दिल्ली डाक
आर. एन. 701/57
Postal Regn. No. (DL)/12035/96
Delhi Postal
Licenced U (DN)-49 to post without pre-payment at DPSO, Delhi
R.N. 701/57

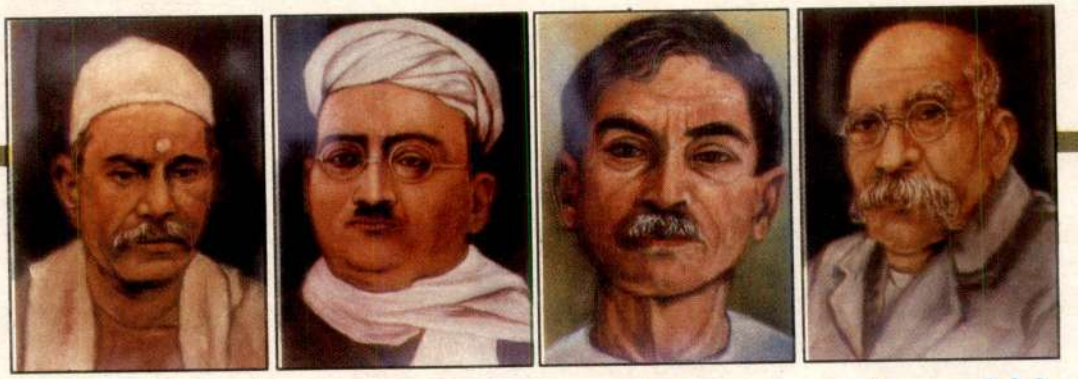

बालकृष्ण भट्ट चंद्रधर शर्मा गुलेरी प्रेमचंद महावीर प्रसाद द्विवेदी

हिंदी साहित्यकार : एक अलबम

(चालीस दिवंगत साहित्यकारों के रंगीन चित्र)

संक्षिप्त परिचय सहित 34.5 X 27.5 सेंटीमीटर आकार में, आर्ट पेपर पर मुद्रित, मढ़वाने योग्य तथा आकर्षक व मजबूत फोल्डर में संग्रहीत।

हर पुस्तकालय, विद्यालय और संग्रहकर्ताओं के लिए जरूरी

मूल्य : चार सौ रुपये।

संपर्क :

व्यापार व्यवस्थापक
प्रकाशन विभाग
सूचना और प्रसारण मंत्रालय
पटियाला हाउस
नई दिल्ली-110001

भगवती चरण वर्मा मुक्तिबोध रघुवीर सहाय सुमित्रानंदन पंत

निदेशक, प्रकाशन विभाग, पटियाला हाऊस, नई दिल्ली-110001 द्वारा प्रकाशित
तथा सैण्ट्रल इलैक्ट्रिक प्रेस, नई दिल्ली-28 में मुद्रित